जूता चकाचक होना चाहिए



जूता
चकाचक
होना
चाहिए

होना चाहिए

पुष्कर द्विवेदी

ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली

प्रकाशक : ग्रंथ अकादमी, १६५९ पुराना दरियागज, नई दिल्ली-११०
सर्वाधिकार . सुरक्षित / सस्करण . प्रथम, 2002 / मूल्य : एक सौ पचास
मुद्रक · नरुला प्रिटर्स, दिल्ली ISBN 81-88267-

JOOTA CHAKACHAK HONA CHAHIYE

satire by Puskar Dwivedi Rs 15
Publ'shed by Granth Akademı 1659 Old Darya Ganj New De

अनुक्रम

महँगी रेलयात्रा के फायदे

अधिकांश लोग रेल मंत्री से नाराज हैं। हालाँकि रेल मंत्री से अमूमन कोई खुश नहीं रहता। रेल मंत्री से नाराज रहना हमारी फितरत है। सच पूछो तो अधिकार है। जब से रेल और रेल मंत्री बने हैं, किराए-भाड़े बढ़ते रहे हैं। परिणामस्वरूप लोग नाराज भी होते रहे हैं।

वह स्वर्णकाल ही कहा जाएगा, जब दूसरे दर्जे के यात्रियों पर रेल मंत्री मेहरबान रहा हो और किराया नहीं बढ़ा हो; अन्यथा रेल के हर दर्जे में किराया वृद्धि हूँककर होती रही है। यही प्रमुख कारण है कि रेल मत्री से पूरा देश खुश नहीं रहता, सिवाय सरकार को छोड़कर।

मगर सच पूछो तो जब भी रेल का किराया बढ़ता है, मुझे बेहद खुशी होती है। दनादन किराया-वृद्धि होती रहनी चाहिए। इससे उन लोगों की गलतफहमियाँ दूर होंगी, जो रेल को अपनी बपौती समझते हैं और समझते रहे हैं। मेरा तो रेल मंत्री को मशवरा है कि रेल मे बैठनेवालों से रेल की पूरी कीमत ही वसूल लिया करें। यदि इतना न हो सके तो कम-से-कम रेल के एक डिब्बे की कीमत उस डिब्बे में बैठनेवालों से पहले ही जमा करवा लिया करें, सिक्योरिटी की तरह। इससे फायदा यह होगा कि लोग डिब्बों में से बल्ब, नल की टोंटियाँ, पंखे और उनके स्विच, सीट कवर वगैरह उखाड़कर ले भी जाएँ तो रेल विभाग नुकसान में तो नहीं रहे।

'सिक्योरिटी राशि' के रूप में अगर रेल विभाग डिब्बे की पूरी कीमत यात्रियो से पहले ही रखवा लेगा तो सरकार ने रेल बीमा योजना और रेल हादसो में मरने का मुआवजा देने की जो योजना चालू की हुई है, उसमे सरकार को भारी मदद मिलेगी। रेल यात्रा जितनी ही महँगी होगी, लोग यात्राएँ भी फिर उतनी ही कम करेंगे। कहीं आने-जाने का झंझट ही समाप्त हो जाएगा। इससे 'न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी' वाले मुहावरे की पुष्टि होगी और यह मुहावरा फलेगा-फूलेगा। तात्पर्य यह कि यात्राएँ ही नहीं होंगी तो रेल हादसे भी नहीं होंगे।

इस प्रकार, जब कोई कहीं जाएगा-आएगा ही नहीं तो एक ही जगह रहते हुए लोग एकता की डोर में बँधेंगे, समाज में समता का भाव पैदा होगा। विपक्षी दलों की रैलियों को फ्लॉप करने मे यह सूत्र काफी मददगार होगा। रेलयात्रा महँगी कर देने का लाभ सरकार को यही मिलेगा। मुझे अफसोस है, रेल मंत्री कभी-कभी किसी एक वर्ष में रेल बजट पेश करते हुए मध्य श्रेणी पर बिजली नहीं गिराते हैं—किराया नही बढाते हैं। अगर वे पाबंदी के साथ ऐसा करते रहे तो विपक्षी रैलियाँ और उनके आयोजन असफल ही होते रहेंगे। पर खैर! आगे के लिए मेरा यह मशवरा रेल मंत्री नोट कर लें।

रेल महँगी होने के कारण जब रेलयात्राएँ कम होंगी या फिर नही के बराबर होंगी तो रेल में होनेवाले अपराध—डकैती, लूट-खसोट, चलती ट्रेन में चेन पुलिंग वगैरह सभी अपने आप समाप्त हो जाएँगे। तब जी.आर.पी. यानी रेल पुलिस फिनिश। मतलब यह कि यह विभाग समाप्त करने पर विचार हो सकेगा। इससे रेल-घाटे की पूर्ति में काफी सहायता मिलेगी।

मुझे उम्मीद है कि मेरे नेक मशवरे रेल मंत्री को रास आएँगे। इसमें पूरे देश का नहीं तो कम-से-कम रेल विभाग का फायदा-ही-फायदा है। अगर रेल मंत्री ने रेल को महँगा—और महँगा बना दिया तो सचमुच ही वे रेल विभाग के 'रेल मेल' यानी कि 'रेल पुरुष' निश्चित रूप से कहे जाएँगे।

□

मेरा घी लौट आया



घर में मेहमान आ गए थे। पत्नी ने हमें डिब्बा थमा दिया। आदेश दिया कि जाओ और बाजार से घी ले आओ। हमने साइकिल पर अपने दफ्तरवाले बैग में डिब्बा रखा। हैंडिल से लटका लिया। लौटते समय रास्ते में बैग की तनी टूट गई। घी के डिब्बे समेत बैग कहीं गिर गया। मुझे खबर तक नहीं हुई। रास्ते में किसी ने मुझे आवाज भी नहीं दी। वैसे लोग जरूर चिल्लाते हैं पीछे से कि भाई साहब, फलाँ चीज गिर गई, उठा लीजिए। कभी-कभी लोग उठाकर भी दे देते हैं। मेरा घी गिरा तो किसी ने नहीं देखा। किसी ने आवाज नहीं दी। मुझे भारी कोफ्त हुई। एक बार मैं साइकिल पर बाजार से पत्नी के साथ आ रहा था। वो रास्ते में गिर पड़ी। मै चलता चला गया, यह सोचकर कि अलाएँ-बलाएँ साथ छोड़कर रास्ते में गिर पड़े तो अच्छा ही है।

मगर लोगों ने पत्नी को उठाकर मुझे आवाज दी, 'भाई साहब, पत्नी गिर पड़ी है। लेते जाइए।' यानी लोगों की भलमनसाहत कि पत्नी तक लौटा दी। मगर घी के नाम पर नैतिकता मर गई! घी नहीं लौटाया। मै रास्ते भर जाने क्या-क्या सोचता रहा, लोगों को कोसता रहा।

घर आकर मैंने पत्नी को सारी बातें बताईं और कहा कि वह गिर पड़ी थी तो मिल गई थी। अबकी बार घी गिरा, वह किसी ने वापस नहीं लौटाया। लोगों की निगाह में घी का मोल-महत्त्व पत्नी से

अधिक है। इसपर पत्नी ने मुँह फुलाकर लटका लिया। मेरी लापरवाही को टीपने लगी।

बाद में पत्नी ने कुढ़कर सलाह दी कि अखबार मे घी के खोने की खबर छपवा दी जाए! मैंने कहा, 'मगर इससे घी वापस थोड़े ही आ जाएगा! अगर लोगों में नैतिकता और ईमानदारी होती तो अभी तक घी लौटा दिया होता।'

इस जमाने में चीजों को लोग नहीं लौटाते। हाँ, आदमी गिर जाए तो बता देते हैं। तब भी कोई आदमी को नहीं उठाए तो लोग परवाह नही करते। भले ही वह सड़क पर पड़ा-पड़ा सड़ता रहे। पिछले दिनो शहर के व्यस्ततम इलाके में एक आदमी पता नहीं कैसे गिर पड़ा। किसी ने उसे उठाया तक नहीं। लोग एक नजर देखते और आगे बढ़ जाते। सडक पर गिरा आदमी मर गया। सड़ने लगा तो चील-कुत्तों ने घसीटकर नाले मे लुढ़का दिया। हाँ, ऐसे में कोई चीज गिरी होती तो उठाकर रख लेते लोग। नोट, कपड़ा, सोना-चाँदी सब रख लेंगे लोग। मेरा घी ही गिर गया। बताया किसी ने? उठाकर रख लिया!

पत्नी ने राय दी, 'अखबार में छपेगा कि एक लेखक का एक किलो घी गिरकर खो गया, तो उससे लेखक वर्ग की हैसियत बढ़ेगी। नाम होगा राइटर्स का। जो कहते हैं कि लेखक फटीचर होता है, भूखो मरता है, इस खबर को पढ़कर उनकी समझ में आ जाएगा कि लेखक भी घी खाता है, सिर्फ कागज नहीं। आगे आनेवाली पीढ़ी भी गर्व से कहेगी कि इक्कीसवीं शताब्दी में जब महँगाई चरमोत्कर्ष पर थी, उस समय लेखक घी खो दिया करते थे। एक-एक किलो घी खो दिया करते थे।' पत्नी ने गंभीरता से कहा, 'यदि किसी विदेशी को पता चला तो वह अपने मुल्क में बताएगा कि आज भी भारत में घी-दूध लोग (वह भी लेखक) किलो-किलो के हिसाब में गिरा देते हैं।'

उन्होंने आगे सलाह दी, 'घी खोने की खबर जरूर छापना। आखिर पत्रकार हो! पत्रकारिता कब काम आएगी? जब लोगों को पता चलेगा कि द्विवेदीजी घी खाते हैं तो लोग 'अंडर द टेबल' घी दे जाया करेंगे।'

मुझे पत्नी की बात समझ में आई। मेरे बारे में लोग जानते हैं कि द्विवेदी बस कलम सूँघता है, कागज रँगता है। सो मेरे साथ कभी ऐसा भी नहीं हुआ कि कोई रिफिल ही दे गया हो। मुझे लगा कि पत्नी ज्यादा व्यावहारिक है। दूरदर्शिता में लाजवाब! घी खोने की खबर से घी वापस आए, न आए, मैं 'घीखोर' के नाम से मशहूर हो सकता हूँ। भविष्य मे कभी 'घृत उपहार' प्राप्त करने की आशा बलवती हो गई। पत्नी की बातें ध्यान में रखकर घी खोने की खबर बनाने को सोचा ही था कि दूसरे दिन अखबार के दफ्तर जाते समय वह हुआ जो मेरे या किसी के साथ कभी नहीं हुआ होगा। यानी कि कोतवाली में बुलाकर पुलिस ने मुझे मेरा घी लौटाया। यह किसी पुलिसवाले को मिल गया था। बैग में मेरे कागजों में मेरा पता पाकर थाने से इत्तिला आई थी।

घी पाकर मुझे अपार प्रसन्नता हुई। इसलिए नहीं कि घी मिल गया, वरन् इसलिए कि यदि पत्नी का मोल घी के मुकाबिल अधिक नहीं तो कम भी नहीं ठहरा। यह मुझे पत्नी का चेहरा देखकर भी पता चल रहा था। इधर जो पुलिस को जाने कितना गिरा हुआ समझने लगे थे, इस मेरे घी के गिरने ने पुलिस की छवि को सुधारकर उसका स्तर उठा दिया था।

मारे खुशी के मैं गुनगुना उठा—'हवाओ, रागिनी गाओ, मेरा घी लौट आया है/मेरा महबूब आया है।…'

□

उनका प्रथम आगमन फ्लॉप



उनकी दिली तमन्ना थी कि वह भी प्रथम बार आएँ। अपने शहर में उनका भी प्रथम आगमन हो। वैसे तो अपने शहर में ही वह पैदा हुए। गली-गली चप्पलें चटकाई। फिर बिजनेस किया तो उस चक्कर मे शहर से बाहर गए-आए। बिजनेस फला-फूला। सारी इच्छाएँ भी फली-फूलीं। बस, अब एक ही इच्छा विशेष थी कि वह अपने शहर में प्रथम बार आएँ, जैसेकि नेता लोग प्रथम बार आते हैं। उन्हें यह देख-देखकर भारी कुढ़न होती कि दो कौड़ी का कबाड़िया फलाँ पार्टी से जुड़कर नगर अध्यक्ष हो गया और फिर शहर में प्रथम बार भी आ गया।

अब वह भी प्रथम बार आकर रहेंगे। उन्होंने ठान ली। तुरंत ही वह आनन-फानन में एक नवनिर्मित राजनीतिक दल 'सपना दल' के सदस्य हो गए। फिर चले गए लखनऊ—पार्टी के संस्थापक का आशीर्वाद लेने और भेंट देने। इससे पूर्व वह अपने कर्मचारियों और कुछ रिश्तेदारों को आदेश-निर्देश दे गए कि किसी भी तरह कुछ भीड़ इकट्ठा करके स्टेशन पर उनके स्वागत में वे आएँ। वह अपने मुंशी-कम-पी.ए. को धन भी दे गए, ताकि आम लोगों को भी जुटाया जा सके।

दूसरे ही दिन वह आ गए थे—प्रथम बार। स्टेशन पर उनका व्यापार मंडल खड़ा था। शहर में गला फाड-फाडकर एनाउंस कराया गया था कि वह प्रथम बार आ रहे हैं। उनके प्रथम आगमन की सूचना

के पोस्टर भी दीवारों पर चिपक गए। सो कुल मिलाकर स्टेशन पर पंद्रह-बीस लोग जमा हो गए।

स्टेशन पर गाड़ी का वह डिब्बा काफी आगे निकल गया, जिसमे वह विराजमान थे। उनके गुर्गे सबसे पीछे प्लेटफॉर्म पर गेट के पास खड़े थे। वह अकेले ही तेज-तेज चलते-दौड़ते और हॉफते हुए-से आए। उन्होंने आते ही कहा, 'तुम सब कहॉ मर गए थे? वहाँ डिब्बे के गेट पर मैं मालाओं के इंतजार में फँसा रहा। पीछे से भीड़ के धक्के खाता रहा, भीड के धक्कों से प्लेटफॉर्म पर औंधे मुँह गिरते-गिरते बचा। खैर!'

वह अपने संस्थान के कर्मचारियों पर झुँझलाए, 'मालाएँ कहॉ हैं?'

'सर, आ रही हैं।' एक कर्मचारी बोला।

'कहाँ से आ रही हैं? तब तक क्या ऐसे ही खड़ा रहूँ, बिना मालाओं के? सारी भीड़ निकली जा रही है।' वह अकुलाकर बोले।

तभी तीन लोग मालाएँ लेकर आ गए।

'ये कौन हैं?' उन्होंने पूछा।

'एक तो आपका ड्राइवर है और दूसरे दो रञ्जन व विमलेश की गाड़ियों के ड्राइवर हैं।' उनके एक दूर के रिश्तेदार ने बताया।

'इन्हें लाने की क्या जरूरत थी?'

'कुछ भीड़ तो बढ़ानी थी।' किसी ने बताया।

'तो उसके लिए अरविंद पुल से आठ-दस मजदूर ले आते, जो आम आदमी के बेहतर प्रतीक होते।' वह खीझते हुए मुंशी-कम-पी ए की तरफ देखकर बोले, 'मुंशीजी, क्या तुम्हारा इंतजाम यही रहा?'

'सरकार, आज शहर में आम आदमी का अकाल-सा है।' तुरंत मुशीजी ने अपने बचाव में शस्त्र चला दिया।

'कहाँ मर गए सब?'

'एक बड़े राष्ट्रीय दल के मंत्री का आगमन हुआ है, सारी भीड़ वहीं के लिए खरीद ली गई। भीड़ ट्रैक्टर-टैंपो में भर-भरकर पडोस के कस्बे में चली गई।' मुंशीजी ने बताया।

'इस मत्री का आगमन भी मेरे प्रथम आगमन के साथ होना था।'

वह दाँत पीसते हुए बड़बड़ाए। फिर अपने क्षोभ-क्रोध पर काबू पाते हुए बोले, 'अच्छा-अच्छा, ठीक है। अब जल्दी से मालाएँ पहनाओ और जयकारे लगवाते हुए मुझे उठाकर इस प्लेटफॉर्म के बाहर शहर की तरफ ले चलो।'

तुरंत ही मुंशीजी के इशारे पर उन ड्राइवरों ने उन्हें मालाएँ पहना दीं।

'इन तीन मालाओं से बात नहीं बनेगी, कुछ और लोगों से मालाएँ पहनवाओ।' धीरे से उन्होंने मुंशीजी से कहा।

'हुजूर, मालाओं का भी अकाल है! मालाएँ मंत्रीजी के लिए पहले ही खरीद ली गई थीं। और फिर यहाँ मालाएँ पहनानेवाले भी कहाँ हैं? जो हैं, वे सब रिश्ते-नाते में आपके बुजुर्ग हैं। क्या उनसे मालाएँ पहनना आपको शोभा देगा?'

मुंशीजी की बातों का उनपर प्रभाव पडा।

'अच्छा-अच्छा, मुझे कंधों पर बैठाकर बाहर निकालो और जयकारे लगवाओ।'

'हुजूर, यहाँ आपका वजन कौन उठा सकता है? पूरा दो सौ किलोग्राम है! आपको उठाने के लिए तो क्रेन या महाबलियों को लगाना पड़ेगा।'

मुंशीजी ने बाद में धीरे से मुँह-ही-मुँह में कहा, 'आपको तो ईश्वर ही उठा सकता है।'

'मुंशीजी, यह मुँह-ही-मुँह में बोलने-बड़बड़ाने की आदत छोड़िए और चलिए, जयकारे लगाते हुए।' उन्होंने चिढ़कर कहा और प्लेटफॉर्म से बाहर चल पड़े।

मन-ही-मन उन्हें अपना प्रथम आगमन फ्लॉप होता लग रहा था। मुशीजी के सिवाय कोई जयकारे नहीं लगा रहा था। वह शर्म से सिर झुकाए चले जा रहे थे और प्लेटफॉर्म से लेकर निवास तक रास्ते में अन्य लोग मुसकराते हुए उनके फ्लॉप प्रथम आगमन को देख रहे थे।

□

मुझे गुंडा मार्का किराएदार चाहिए



जिंदगी में उपस्थित तमाम अभावों और किल्लतो के साथ-साथ अच्छा, प्यारा और आज्ञाकारी किराएदार मिलना मुश्किल ही नहीं, असभव-सा है। जिन्हें ऐसा किराएदार मिल गया, समझो कि कोहनूर मिल गया। आजकल तो जो किराएदारों की नस्ल है, वह अधिकतर झगड़ालू, अशिष्ट और किराया लूटकर भाग जानेवालों की है। ऐसे ही किराएदारों का फैशन है।

कुछ दिनो से मैं भी एक अच्छे किराएदार की खोज मे कोलंबस बना हुआ हूँ। मुझे किराएदार ऐसा चाहिए, जो निहायत ही बदतमीज, बदजबान हो और मेरे पडोसी के लिए सिरदर्द बन जाय। दरअसल, मैं अपने पड़ोसी को छकाने-परेशान करने के लिए ही ऐसा किराएदार चाहता हूँ। किराएदार बेशर्म और गुंडा मार्का हो, तब तो सोने में सुहागा है।

ऐसा किराएदार, जैसा मैं चाहता हूँ, किसी भी जाति का हो, चलेगा। बस आवश्यक यही है कि वह आकांक्षाओं के अनुरूप होना चाहिए। किराएदार मेरी आशाओं पर अमल करनेवाला हो। मेरी इच्छानुसार वह पड़ोसी के प्लॉट और चबूतरे पर अपना और मेरे घर का कूड़ा-कचरा फेंक दे, ऐसा दिलेर किराएदार चाहिए मुझे। चोरी और सीनाजोरी कर सकनेवाले किराएदार को मैं प्राथमिकता दूँगा और कोई एडवांस भी नहीं लूँगा।

वास्तव मे मै ऐसे किराएदार को सिर-आखो पर बिठाकर रखूगा जो मेरे पडोसी की बाउड्रीवॉल पर उसके बार-बार मना करने के बाद भी बैठ सके, ताकि उस बाउंड्रीवॉल का नामोनिशान मिट सके। जब जर्मनी जैसे देशों ने बाउंड्रियाँ तोड़ डालीं, पाकिस्तान सीमा-रेखा को तोडता रहता है तो घरों, मुहल्लों और पड़ोसियों की बाउड्रियाँ क्यों रहे ? बाउंड्रीवॉल तोडने के बाद किराएदार पड़ोसी से धींगामुश्ती, मुँहचाबर और लडने के लिए कमर कसे रहे। मियाँ-बीवी दोनों ही लड़ाकू और चिल्ला-चिल्लाकर आसमान सिर पर उठा लेनेवाली प्रकृति के जाँबाज हों तो उन्हें लेट किराया देने की छूट मिलेगी, पाँच प्रतिशत बोनस भी दूँगा। यानी कि ऐसा किराएदार पहली तारीख की बजाय पाँच-छह तारीख को भी किराया देगा तो मुझे कतई परेशानी नही होगी।

हाँ, मुझे उस वक्त भारी परेशानी होगी, जब वह मेरे बाथरूम और टॉयलेट का इस्तेमाल करेगा। मैं अपनी इस बात पर अडिग हूँ कि बाथरूम और टॉयलेट की व्यवस्था किराएदार को खुद ही करनी होगी। इसके लिए मेरी निःशुल्क सलाह यह है (बल्कि दिली तमन्ना भी) कि वह पड़ोसी की खुली भूमि पर खुलेआम या चोरी-छिपे, जैसे सुविधा हो, जा सकता है। इससे मुझे तो चैन मिलेगा ही, किराएदार को वहाँ से फारिग होकर आते हुए नींबू, आम, पपीते और साग-सब्जियाँ एकदम ताजा और मुफ्त मिल जाया करेंगी। ये सब चीजें पड़ोसी के प्लॉट पर उपलब्ध हैं। इस प्रकार फलों के सेवन का लाभ मेरे भावी किराएदार को फोकट में प्राप्त होगा।

अब चूँकि मेरे पडोसी को आर्थिक, मानसिक क्षति पहुँचाने मे किराएदार मेरा सहयोगी होगा, इसलिए सप्ताह में दो फिल्में मैं उसे वी.सी.आर. पर दिखाऊँगा; अपने ही घर के ड्राइंगरूम में उसे फिल्म देखते समय चाय-नाश्ता भी कराऊँगा।

पड़ोसी ने मेरी नाक में दम कर रखा है। वैसे मैं सीधा आदमी हूँ और खास कुछ कर नहीं पाता हूँ; लेकिन मैं चाहता हूँ कि मेरा किराएदार कुछ खास करे, ताकि पूरे मुहल्ले में हल्ला मचे। मैं अपने पड़ोसी के

हाथ मलते हुए एकदम बेबस देखना चाहता हूँ। मेरा पड़ोसी परेशान होगा तो मेरी आत्मा प्रसन्न हो जाएगी। मेरा किराएदार डरपोक नहीं होना चाहिए। अगर किराएदार डर जाएगा तो उसकी हालत भी मेरी तरह पतली हो जाएगी। पड़ोसी उसकी भी नाक में दम कर देगा। मैं पड़ोसी से जीतना चाहता हूँ। अगर किराएदार मुझे जीत दिलाएगा तो मैं उसका सार्वजनिक अभिनंदन करूँगा।

मेरी दिली इच्छा है कि किराएदार के पास स्कूटर या मोटरकार भी हो, जिसे वह पड़ोसी की भूमि या उसके आने-जानेवाले मार्ग में ही खड़ा करे। समय-समय पर वह अपने वाहन पर मुझे सैर कराए। इसके एवज में मैं उससे 'हाउस-टैक्स' या 'वाटर-टैक्स' नहीं लूँगा। पर शर्त यह है कि उसे अपने वाहन की रगड़ पड़ोसी के मकान की दीवार और चौहद्दी पर हर बार आते-जाते हुए मारनी होगी।

पड़ोसी कभी मुझसे किराएदार की शिकायत करेगा तो मैं किराएदार पर नकली नाराजगी जाहिर करते हुए उसे डाँटूँगा। यह मैं अभी स्पष्ट कर दूँ, ताकि मेरी डाँट को किराएदार अन्यथा नहीं ले और मेरा किराया मारकर या मकान को क्षति पहुँचाकर चला न जाए।

तो फिर किराएदार ऐसा सुनहरा अवसर न छोड़ें। कोई ऐसा किराएदार हो तो निस्संकोच चला आए। मेरी स्थिति पहलेवाले नॉर्दर्न एलायंसवाली है। मैं कोने में पड़ा हूँ और मेरा पड़ोसी तालिबान जैसा हो गया है। मुझे अमेरिका जैसा निडर किराएदार चाहिए, ताकि वह पड़ोसी के छक्के छुड़ा दे। ऐसे किराएदार का मैं जोरदार स्वागत करूँगा।

☐

छपकन लूजर में लोटन कबूतर



मेरा एक मित्र है। आधी शताब्दी देख लेने के बाद भी जितेंद्र की तरह फिर-फिर युवा दिखने का उसे दौरा पड़ता है। सच तो यह है कि सुंदर दिखने के प्रयास में उसकी पत्नी ही अधिक सहायक होती है। औरों की तरह मैं भी इस सत्य (या तथ्य) को स्वीकार करता हूँ कि हर वह कार्य, जो पुरुष करता है, उसमें स्त्री कहीं-न-कहीं शामिल रहती है। मेरे मित्र की पत्नी भी उसे बार-बार गोविंदा और सलमान जैसा दिखने को मजबूर करती है। मित्र भी अपनी ओर से जुटा रहता है।

इन दिनों मित्र छपकन लूजर पहनकर घूमता है। यह बात दूसरी है कि वह छपकन लूजर में इतना हास्यास्पद लगता है कि मेरा मन जब भी उदास होता है, तो बस उसे ही देखकर प्रसन्न हो जाता हूँ। पिछले दिनों मेरी छोटी बिटिया बहुत रो रही थी। रोने का कारण समझ में नहीं आया, तभी मैं अपनी पाँच वर्षीया पुत्री को अपने मित्र के पास ले गया। तहमद और छपकन (प्रिंटेड) लूजर में मेरे मित्र को देखकर वह रोते-रोते चुप ही नहीं हो गई, बल्कि गोद से उतरकर नाचने भी लगी।

ऐसे में मुझे मित्र की पत्नी की बात सच लगी। उसने बताया था कि वह मित्र को लेकर मायके गई थी। वहाँ भतीजी की शादी थी। शादी में मित्र को छपकन पोशाक में देखकर सभी प्रसन्नता के मारे फटे जा रहे थे। साले-सालियाँ, भतीजे-भतीजियाँ सामूहिक नृत्य करने लगे थे। गाने

लगे थे, 'मेरा जीजा घर आया, हो राम जी'' ।' वृद्ध पिता अर्थात् मित्र के ससुर भी हिरन की तरह कुलाँचे भरने लगे थे।

साफ है कि मित्र के ससुर अपनी बेटी की सफलता पर खुश हुए होंगे। उन्हें लगा होगा कि उनकी बेटी सही मायने में राज कर रही है। उन्हें खुशी हुई होगी कि उनका दामाद बहुत आज्ञाकारी है।

वैसे भी जहाँ तक मैं सोचता हूँ कि ससुराल में दामाद को देखकर लोग खुश ही होते हैं। घामड़-से-घामड़ और बिजूका दामाद पर ससुरालवाले फूल बरसाते है। वह बात अलग है कि कई बार जूते भी बरस जाते हैं। टोले-मुहल्ले की औरतें दामाद को देखकर मुस्की मारती हैं। उनका मुसकाना बड़ा मायनेखेज होता है। युवक जब वर बनकर पहली बार ससुराल जाता है, तब उसकी ड्रेस बहुत आकर्षक होती है। जब वह ससुराल पहुँचता है तब ऊँची आवाज में बाजे भी बजते हैं। वर के ससुराल पहुँचते ही ससुरालवाले नाचने लगते हैं। सवाल यह है कि फिर वह हर बार 'उसी ड्रेस' में क्यों नहीं जाता? वैसे मेरा विचार है कि यदि वह उसी तरह सेहरा-पगड़ी बाँधकर, काजल लगाकर, तलवार-कटार बाँधकर ससुराल जाए तो भी वह वहाँ मोहक लगेगा। उसका वैसा ही सत्कार होगा।

इधर मैंने यह भी देखा है कि कई गबदे टाइप के पतियों को पत्नियाँ सिर-आँखों पर रखती हैं। पत्नियाँ हफ्ते-दर-हफ्ते अपने पतियों को ऐसा कुछ बनने या करने पर मजबूर कर देती हैं कि पति बजरबट्टू लगने लगते हैं। ऐसा क्यों होता है? यह विचारणीय और चिंतनीय है। शायद पत्नी के समक्ष कार्टून बनना ही सुखद है या फिर हर हाल में पत्नी को खुश रखना पति की बेबसी। जोकर बनकर हीरो होते रहने की नियति है। जोकर पतियों को देखकर मुझे हमेशा दिक्कत होती है। मुझे उन पर तरस आता है। पत्नियों को सोचना चाहिए कि केवल वही नहीं, बल्कि दुनिया भी उनके पतियों को देखती है। साड़ी से बना कुरता पतियों को कभी नहीं पहनना चाहिए। लोग सामने मुसकराते हैं, लेकिन पीठ पीछे बहुत आनद मनाते हैं।

दुनिया के बहुत से लोगों की तरह मेरा मित्र भी अपनी मौलिकता खो चुका है। पसंद-नापसद करने के मौलिक अधिकार से वंचित हो चुका है। वह अपने लिए कपड़े भी नहीं खरीद सकता। मेरी सलाह है कि मित्र कपडों के चयन के मामले में पत्नी की बात मानने से इनकार कर दे। आवश्यकता पड़े तो कोर्ट-कचहरी, सुप्रीम कोर्ट और मानवाधिकार आयोग तक अपनी पीड़ा को पहुँचाए। मित्र अगर लडाई लड़ेगा, तो कई लोग उसका साथ देंगे। वह लड ले, लेकिन वह छपकन कपडो का अंडरवियर भी नही बनवाए। यदि उसने ऐसा किया तो पत्नी अंडरवियर में ही ससुराल घुमाएगी, अभिनेता राजेंद्र नाथ की तरह। मित्र को चाहिए कि वह जोकर बनने से इनकार कर दे। मित्र अपने छपकन कपड़ों में से बच्चियों की फ्रॉकें निकलवा दे। उसका यह 'साहसपूर्ण त्याग' बाल-इतिहास में स्मरणीय एवं प्रेरक-तत्त्व बनकर अमर रहेगा। बच्चे खुश रहेंगे।

इधर अपने मित्र की पत्नी के लिए भी मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि उसे सद्‌बुद्धि प्राप्त हो, उसकी खोई चेतना वापस लौटे तथा आधुनिकता की अंधी दौड़ में जकड़ी उसकी फूहड़ मानसिकता मे बदलाव हो। वह अपने पति पर छपकन लूजर का जाल डालकर उसे लोटन कबूतर बनाना छोड़े। पति की स्वतंत्रता बहाल करे। मतिभ्रम से उसे मुक्ति मिले। आमीन!

□

जूता चकाचक होना चाहिए



मेरे एक मित्र हैं, जिनके जूते कहीं खो गए या चोरी हो गए है। जिसके जूते खो जाएँ, उसका चिंतित होना स्वाभाविक है। मेरा मित्र भी चिंतित है। वह थोड़ा-थोड़ा नेता भी है, इसलिए ज्यादा चिंतित है।

दरअसल जूते से आदमी की पहचान होती है। जूतों से ही आदमी का स्तर आँका जाता है। पहले-पहल आदमी के जूतों पर ही नजर पड़ती है। सभ्य समाज में कहते हैं कि बिना जूतों का आदमी आदमी नहीं, चौपाया लगता है। चौपाये जूते नहीं पहनते, शायद इसीलिए।

एक बार एक भूतपूर्व मुख्यमंत्री का जूता खो गया था। तब सारे लोग चिंतित थे। जूता कौन ले गया? किसकी इतनी हिम्मत हुई कि मुख्यमंत्री का जूता ले उड़ा? बहुत हंगामा हुआ था। जाँच करवाने की बात हुई थी। मुख्यमंत्रीजी काफी चिंतित हुए थे। उनके कई असंतुष्ट साथी और विरोधी थे। वे सभी उनसे किसी-न-किसी प्रकार बदला लेना चाहते थे। अगर किसी मंत्री या नेता से अपना प्रतिशोध और बदला लेना हो तो उसका जूता ले लो, जूता चोरी कर लो या चोरी करवा दो। जैसे क्षत्रिय का शस्त्र, वणिक का धन, ब्राह्मण की विद्या और शूद्र की सेवा का हरण कर लिया जाय तो वह मृतक समान हो जाता है, व्यक्तित्वहीन हो जाता है, ठीक वैसे ही जूताविहीन मंत्री भी लुंज-पुंज और कमजोर हो जाते हैं। फिर किसी प्रदेश का मंत्री जूता-विहीन हो

जाए तो समझो कि सारा शासन-प्रशासन ढीला और ठप है। सत्ता और प्रशासन में भय का बड़ा महत्त्व है। इस लोकतंत्र में जूतों का भय जरूरी है। जिनके जूते मजबूत होते है, उनकी खूब चलती है। जिनके जूते मजबूत होते हैं, उनसे घाघ बदमाश भी डरते हैं। अगर घोटाले का शिकार न हुए हों तो पुलिस के जूते भी मजबूत होते है। पुलिस में जूतो का बहुत महत्त्व होता है। काम चकाचक न हो तो चलेगा, लेकिन जूता चकाचक चाहिए।

लेकिन तब पुलिसवाले परेशान थे कि मुख्यमत्रीजी का जूता कौन ले गया? जब जूताविहीन मुख्यमंत्रीजी नर्वस होने लगे थे, तब अनेक जूते उनके लिए लाए गए। मगर सब व्यर्थ साबित हुए। उनके पैरों में कोई जूता नहीं आया। इतने वर्षो बाद मुझे आज भी पता नहीं कि उनका जूता मिल पाया था या नहीं। हाँ, यह खबर जरूर आई थी कि उनका जूता पॉच नंबर का था।

उनके जूते के नंबर की खबर छपते ही उन्हें प्रदेश के मुख्यमत्री पद से हटना पड़ा था। प्रदेश में तब प्रदर्शनों, हड़तालों का जोर था। अब जब पाँच नंबर के जूतेवाला प्रदेश का मुख्यमंत्री होगा तो अव्यवस्था, प्रदर्शन, हड़ताल जैसे बवडर तो होंगे ही। पाँच नंबर तो ज्यादातर औरतों का होता है। मत्री तो कम-से-कम 'दस नबरी' होना चाहिए, जिसका जूता देखकर ही व्यवस्था में भय और प्रीति उत्पन्न हो। अपने यहाँ कहा भी गया है कि 'भय बिनु होय न प्रीति'।

पुलिस के जूते अगर कमजोर हों तो चोर पुलिस से डरना छोड़ दें। नेताओं के जूते कमजोर हों तो उन्हें उनके कार्यकर्ता ही ठग लें। बदमाशों के भी जूते मजबूत होते हैं। इन दिनों तो उनके जूते कुछ ज्यादा ही मजबूत हैं, इसलिए उनकी हर जगह चलती भी है। भ्रष्ट लोगों के जूते भी मजबूत होते होंगे। जूते की ताकत पर शोध भी किया जा सकता है।

हाँ, मैं अपने मित्र नेता की बात कर रहा था, जिनके जूते न जाने कहाँ गुम हो गए हैं? चुनावों का समय नजदीक आता जा रहा है। मैं

उन्हें दुकान ले गया, ताकि वह नए जूते पहन लें, वरना बिना जूतों के चुनाव में कैसे चलेगा?

दुकानदार ने तरह-तरह के जूते दिखाए, लेकिन उन्हे एक भी जूता पसंद नहीं आया। अंततः दुकानदार एकदम देशी चमरौधा अंदर स्टॉक में से खोजकर ले आया।

'यह चमरौधा!' मित्र ने विस्मय से पहले मेरी ओर और फिर दुकानदार की ओर देखकर कहा।

दुकानदार मुसकराकर बोला, 'हॉं, साहब, यह बहुत उम्दा और मजबूत है।'

'चुनाव भर तो चलेगा ही?' मैंने दुकानदार की तरफ देखकर पूछा।

'क्या बात करते हैं, साहब, यह जूता चुनाव में तो क्या, चुनाव के बाद भी खूब चलेगा। ले जाओ साहब, यही एक पीस है। यह ऐसा जूता है, जो हर जगह चलेगा और धूल उड़ाता चलेगा। बड़े-बडे लोग खरीदकर ले गए हैं।'

मेरे मित्र की नेतागिरी जाग गई। उन्होंने पूछा, 'किस पार्टी के लोग ले गए हैं?'

दुकानदार ने कहा, 'लगभग सभी पार्टियों के लोग।'

मैंने मित्र को आँख मारी और कहा, 'भैया, खरीद लो और चुनाव मे जाकर धाक जमाओ।'

मित्र ने वहीं पर चमरौधा जूता पहन लिया और कहा, 'अब मेरी चुनावी यात्रा शुरू होती है।'

मैंने बधाई देते हुए कहा, 'भगवान् करे, यह जूता तुम्हारे राजनीतिक जीवन में चार चाँद लगाए।'

□

अब वे भी महात्मा हो गए



अब वह जमाना नहीं रहा जब आध्यात्मिक और आत्मज्ञान मे लगे समाज का भला चाहनेवालों को महात्मा कहा जाता था। अब तो ऐसे लोगों को पाखडी, धूर्त कहा जाता है। महात्मा और साधु अब वे हैं जो स्वयं रेशमी वस्त्र धारण करें और दूसरों को टाट-बोरा पहनने का उपदेश दें। मानदंड तेजी से बदल रहे हैं, रही बात वस्तु और व्यक्ति के कार्य-कलापों की, तो जो जितना भौतिकता और राजसत्ता में लिप्त है वह उतना ही बड़ा योगी और रजनीश कहलाता है। ऐसे लोग ही अब महात्मा बोले जाते हैं।

समाज में अब जगह-जगह महात्मा सुलभ हैं। यूँ तो मेरा देश महात्माओं और संतों का ही देश है। लेकिन महात्मा के नाम से मोहनदास करमचंद गांधी ही जाने गए। बहुतों ने प्यार से उन्हें 'बापू' कहा। अब तो बापू भी बढ़ रहे हैं। प्रगति हर तरफ हो रही है। जैसे-जैसे अन्य उत्पादन हो रहे हैं वैसे-वैसे महात्मा और बापू भी उत्पादित होते जा रहे हैं।

कुछ समय पहले एक प्रांत में एक किसान नेता ने राजनीति में प्रवेश करके स्वयं को महात्मा गांधी की तर्ज पर अखबारों में खूब उछाला। जोर तो खूब लगाया उसने, परंतु राष्ट्र के दूसरे भागों ने नकार दिया। वह महात्मा ज्यादा नहीं चला। गांधी की तरह उसे महात्मा होना नहीं फला।

लेकिन लोग हैं कि मुहम्मद गोरी बने हुए हैं। बार-बार प्रयास कर रहे हैं। शहर-शहर महात्मा पैदा हो रहे हैं। मेरे शहर में एक शिक्षक हैं। एक बगिया हथियाने के लिए वे महात्मा हो गए। जटाजूट बढाए, कपड़े रँगाए और चढ़ बैठे बगिया पर। वहाँ अपने साथ हनुमानजी को भी ले गए। उन्हें पहरे पर लगा दिया और मजे से उनकी मूर्ति पर दो फूल चढाकर बगिया पर कब्जा कर लिया। उधर स्कूल से भी महात्माजी वेतन मसकते हैं। बगिया हथियाने में उनके महात्मापने ने उनका पूरा साथ दिया। एक पार्टी ने भी समर्थन दिया, सो नेता अलग से बन गए। आजकल वे थ्री-इन-वन हैं—शिक्षक, महात्मा और नेता।

एक और श्रीमानजी बेकारी भोग रहे थे। घर भर परेशान था। तभी उनके बड़े भाई ने उन्हें भगवा वस्त्र का जोड़ा देकर महात्मा बनने की सलाह दी। बेकारी के आलम में चेहरे व सिर पर बाल रस्सी की तरह ऐंठने लगे ही थे। बस मान ली ब्रॉदर की बात। बन गए महात्मा। शहर में एक नुक्कड़ पर हनुमानजी की मूर्ति रखकर नुक्कड़ हथिया लिया। चंदा करके नुक्कड़ की चौहद्दी खींच ली। नगरपालिका नाकों चने चबा गई, नुक्कड़ से उन्हें नहीं हटा सकी। धर्मांधों ने साथ दिया। आज वे सिद्ध महात्मा हैं। मंदिर की चढ़ौती से वे चकाचक हैं। एक बाईजी से विवाह कर वंशवृद्धि भी कर चुके हैं। नन्हा महात्मा पिता का सुयश देखकर किलकता रहता है। अब बताओ, मुलायम सिंह, जो बेकारी का भत्ता देने की बात कह रहे हैं, उस भत्ते से इतनी मौज-मस्ती आ सकेगी जितनी कि महात्मा बनने से? यह विचारणीय है।

पिछले दिनों गाँव गया था अपने। शाम जैसे ही गहरा गई और अँधेरा बढ़ने लगा तो अपने बाबा से पूछा, 'बाबा, अब गाँव के क्या हाल हैं? रातों को बंदूकों और डाकुओं का शोर होता है?'

'ना बेटा ना, अब ऐसा कुछ नहीं। सब शांत हो गया है।' बाबा ने तुरत बताया।

'क्यों, सब-के-सब डकैत कहाँ चले गए? क्या तड़ीपार हो गए?'

'ऐसा कुछ नही है, मुन्ना।' बाबा ने कहा।

'फिर क्या हुआ?' मैंने उत्सुकना प्रकट करते हुए पूछा।

'उन सभी के कायाकल्प और हृदय परिवर्तित हो गए हैं। कोई एम.एल ए , कोई एम पी. और कोई-कोई तो स्वामी महात्मा हो गए हैं।' बाबा ने तफसील से बताया। मैं बाबा की तरफ देखता रह गया। सोचता रहा कि अब पता नहीं, कौन कब क्या हो जाय। हर कोई हर कुछ बन सकता है। सहायता हेतु हनुमान है, राजनीति और नेता हैं, धर्मांध है।

मुझे लगा कि जैसे गुंडागर्दी और दहशतगर्दी—नेतागर्दी के साथ-साथ महात्मागर्दी की तरफ बढ़ रही है! जरा सोचिए, अगर अन्य खतरों के साथ-साथ देश को महात्माओं की मार से भी पीड़ित होना पड़ा तो क्या होगा?

□

लोन पर लदे हुए लोग



महोदय पहले बड़े बुझे-बुझे, उदास-से दिखते थे, प्रात:कालीन सुहानी वेला में भी मरियल-सा चेहरा लिये हुए। अब ऐसी बात नहीं है। चकाचक हैं अब तो। खूब खुश और खिले-खिले लगते हैं। मैंने एक दिन पूछ ही लिया, 'भई, अपनी खुशहाली की झोली हमें भी दिखाओ।'

वह काफी अपनत्व से बताने लगे, 'सब इस सरकार की कृपा है। यह हमारी लोन प्रणाली और लोकतांत्रिक देश का कमाल है कि मुझ जैसा नकारा प्राणी निहाल है।'

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने आश्चर्य जाहिर करते हुए पूछा, 'क्या कहा?'

'हाँ, यह लोन यानी कर्ज का चमत्कार है। सरकार ने तरह-तरह से लोन दिलवाना और देना शुरू क्या किया कि अपने तो दिन ही फिर गए। भैंस के लिए लोन लिया, लूना खरीदने के लिए लोन लिया, रोजगार के लिए लोन लिया, घर बनाने के लिए लोन लिया।'

वह बताते चले जाते, अगर मैं यह न पूछता, 'पर लोन तो चुकाना भी पड़ता है?'

उन्होंने कहा, 'कैसी बात करते हो! लोन चुकाना पड़ा होता तो बेमौत मर गए होते। ऋण अदा करना पड़ा होता तो क्या खुशहाली होती? और फिर कर्ज क्या अदा करने के लिए लिया जाता है? यह तो

अदा दिखाने के लिए लिया जाता है। भारत मे बड़े बडे लोगा न लान लिया, किसने चुकाया ? लोगों ने लोन लेकर आर्थिक साम्राज्य खड़ा कर लिया, लेकिन लोन देनेवालों की ओर पलटकर नहीं देखा। अगर पलटकर देख लेते तो उनका साम्राज्य ही ढह जाता। भारत में इतनी खुशहाली लोन के दम पर ही दिखती है। लोन चुकाना पड जाए तो हर जगह बदहाली ही नजर आएगी।'

वह एक रहस्य-सा बताने लगे थे, 'भई, लोन हजम करने के तरीके हैं, जैसे भैंस खरीदने के लिए लोन लिया। सारा का-सारा पैसा और भैंस खा गए। सरकार को वापस कर दी भैंस की पूँछ। कह दिया कि भैंस मर गई। मजे की बात यह कि सरकार के दफ्तर में पूँछ भी नकली जमा की गई। किसी कसाईखाने से मुफ्त में पूँछ उठाकर सरकार को दे दी, दिखा दी।'

वह फिर मुसकराकर बोले, 'जब गाय की पूँछ पकड़कर आत्मा नरक की वैतरणी को पार कर जाती है, तब भैंस की पूँछ से लोन की नहरें भी पार कर सकते हैं। बस, हजम करने की क्षमता चाहिए और खर्च करने की श्रद्धा चाहिए।'

इतना बताकर फिर वह एक किस्सा और सुनाने लगे, 'मेरे एक मित्र को सिंचाई के लिए ट्यूबवेल और घूमने के लिए मोटर चाहिए थी। उन्होंने ऋण ले लिया। एक-दो किस्तें देकर चुप। बाकी किस्तें नहीं दीं। वसूली के लिए अमीन आया। अमीन ने मोटर और इंजन कुर्क कर दिया। दो गवाहियाँ ले लीं। दूसरे दिन वह अपने साथ कुछ और सहयोगियों को लेकर पहुँचा तो मोटर और इंजन दोनों गायब थे। ऋणी महाशय ने सारा सामान उठवाकर अपने एक रिश्तेदार के यहाँ पहुँचा दिया। अब अमीन फँसा है, क्योंकि कागज पर इंजन और मोटर की कुर्की हो चुकी थी, जो अमीन के पास होना चाहिए था। ऋण लेनेवाले महाशय मगन हैं। इंजन और मोटर बेचकर मस्त पड़े हैं। उधर अमीन और लोन देनेवाले फँसे पड़े हैं।'

महोदय ने लोन हजम करने के इस प्रकार के अनेक तरीके

सोदाहरण मुझे बताए, जिन पर किताब तक लिखी जा सकती हे

एक समय था, जब कर्ज लेनेवाला दबा-दुबका रहता था। कर्ज का मारा उबर नहीं पाता था। अब तो कर्ज उबरने के लिए ही लेते है लोग। कर्ज पर लदे लोग फर-फर करते गाडियों में घूमते दिखते हैं। कर्ज देनेवाला बेचारा मारा जा रहा है। कर्ज देनेवाला पतला और कर्जदार मोटा होता जा रहा है। धन्य हैं वे लोग, जो कर्ज को मुँह की खिला रहे है। लोग लोन पर लदे हुए 'यावज्जीवेत सुख जीवेत, ऋण कृत्वा घृतं पिबेत्' वाली चार्वाक की उक्ति को सत्य सिद्ध करते हुए मगन हैं।

लोन हजम करनेवाले लोगों का मानना है कि उनकी अपनी सरकार है, उनका अपना पैसा है, सो वे खा रहे हैं तो क्या हुआ? और फिर ज्यादा ही तकलीफ है तो कर्ज की वापसी के लिए जॉच कराओ, कमीशन बैठाओ, मुकदमा चलाओ।

सरकार और कर ही क्या सकती है? जॉच करती है, कमीशन बैठाती है और फिर मुकदमा लड़ती है। इसमें भी सरकारी कर्मचारी और जॉच करनेवालों के लिए खाने के सुअवसर होते हैं। सरकार के नाम पर सरकारी लोग खाते हैं। सरकार है ही इसलिए कि सभी लोगों का पेट भरे, भले ही लोन या कर्ज लेना-देना पडे। जॉचों, कमीशनों और मुकदमों से डरना नहीं चाहिए। बड़े-बड़े लोग फँसे पड़े है। किसी का शायद ही बाल बाँका होता है। अगर लोन हजम करनेवाला फँसता है तो अपनी गलती से। लोन हजम करनेवाला परेशान होता है तो उसकी अपनी मरजी है। जो लोग परेशान रहते हैं, उन्हें लोन हजम करने के अलग-अलग तरीके सीखने चाहिए, तभी उनका कष्ट दूर होगा और सरकारी लोगों से सहयोग भी मिलेगा।

□



वह जरूर भौंकेगा



एक कुत्ता अगर पुलिस पर भौंके तो इसके मायने जरा गंभीर हो जाते हैं और परिणाम भयानक। एक दफा गाँव का कोई कुत्ता एक सिपाही पर भौंका। इसका परिणाम यह हुआ कि सिपाही अपने तमाम साथियों के साथ आया और गाँव में कई लोगों की पिटाई हो गई। पूरा गाँव घरो में दुबक गया। गाँव में कुत्तों तक का खुलेआम घूमना मुश्किल हो गया। इसलिए कुत्ते को पुलिस विभाग के किसी भी सिपाही पर नहीं भौंकना चाहिए।

फिर पुलिस तो विशेष रूप से कुत्तों को पालतू बनाकर रखती है, ताकि कुत्ते पुलिस के लिए भौंके। पुलिसवालों को अपने कुत्तों पर बहुत भरोसा होता है। वे अपने कुत्तों को भौंकने की पूरी छूट देते हैं; लेकिन वे कई बार अपने कुत्तों की पूँछ काटकर उन्हे मजबूर कर देते हैं। पूँछ कटा कुत्ता अपने व्यापक समाज से दूर हो जाता है। शुद्ध कामकाजी हो जाता है। वह पुलिस पर नहीं भौंकता। लेकिन जो कुत्ता पुलिस का नहीं है, जो गलियों में घूम रहा है, जो एकदम कुत्ता है उसे क्या पता कि पुलिस पर भौंकना चाहिए या नहीं। वास्तव में हर कुत्ता तो पुलिस का लिहाज नहीं कर सकता। फिर कुत्ता कोई आदमी तो है नहीं कि कुछ भी गलत-सलत या उलटा-पुलटा देखकर भी चुप लगा ले। वह तो भौंकेगा। बस, इसी मामले में आदमी से आगे निकल गया है कुत्ता। इसी कारण

वेल्यू बढ़ी है कुत्ते की। यह अलग बात है कि इस आदत के कारण उसे कई दफा पिटना पड़ता है। लेकिन वह अपनी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को छोड़ने को तैयार नहीं है। लोग भले ही अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को भूल जाएँ, लेकिन कुत्ता कदापि नहीं भूल सकता। वह निडर होता है।

लोग आदमी की जगह जरूरत पड़ने पर कुत्ता रखना पसंद करते है। बडे-बडे लोगों के यहाँ जितने प्यार से आदमी नहीं पलते उतने प्यार से कुत्ते पलते हैं। आदमी समय और शक्ति-सामर्थ्य को देखकर कुत्ते की दुम बन जाता है; लेकिन गली, गाँव का कुत्ता हमेशा कुत्ता बना रहता है। सच कहूँ तो वह आदमी से अधिक साहसी हो जाता है। यानी कुत्ता बहादुरी से तो भौंकता ही है, अगर वह डरता है तब भी भौंकता है। कुत्ता आगे बढकर भौंकता है तो मौके की नजाकत को देखकर पीछे हटकर भी भौंकता है। कुत्ता कभी रोनी सूरत बनाकर और पूँछ दबाकर भौंकता है तो कभी खेलते, हँसते-मुसकराते हुए भी भौंकता है। हाँ, साहब, ताजा अनुसंधानों के परिणाम हैं कि कुत्ते खेलते समय हँसते भी हैं। इस कारण कुत्तों के हँसने की बात पर आदमी को हँसने की जरूरत नहीं है।

भौंकने के मामले में कुत्ता तब तक भौंकता है जब तक उसमें विवेक रहता है। भौंकना उसका धर्म है, संस्कार है। जब वह भौंकना बद कर देता है तो पागल समझा जाता है और मर जाता है या मार दिया जाता है।

अगर भौंकना एक कुत्ते का पुनीत धर्म है तो भौंके। मगर सवाल यह है (एतराज भी) कि वह पुलिस पर क्यों भौंके? लेकिन साहब, कुत्ता कोड या श्वान-संहिता में यह तो लिखा नहीं कि कुत्ता पुलिस पर नहीं भौंके। कुत्ते को क्या पता कि फलाँ आदमी पुलिस विभाग का है और फलाँ आदमी किसी दूसरे विभाग का! क्यों भई, कुत्ते को क्या दिखाई नहीं देता? पुलिस की वरदी नहीं दिखाई देती? कुत्ता वरदी पर भौंकेगा? उसकी यह हिमाकत? यह मजाल?

पर सच मानिए, यह जो कुत्ता होता है, वरदीवादी कतई नहीं होता। वह वरदी के एकदम विरुद्ध होता है; फिर वरदी तो डाकू भी

धारण करते हैं। दरअसल, कुत्ता जन्म से ही वरदी के खिलाफ होता है। वह किसी भी वरदी-अरदी का कोई लिहाज नही करता। कुत्ता आम आदमी का पक्षधर है। उसे आम पोशाक प्रिय है। जरा भो कोई विशेष, और विचित्र वेशभूषा में दिखता है तो वह भौंकना शुरू कर देता है। कुत्ते को वरदी या ड्रेस पसंद नहीं।

कुत्ता आदमियों के मनोभावों को शीघ्र पकडता है। वह आदमी को सूँघकर उसके अंदर छिपे दूसरे आदमी को पकड़ लेता है। पुलिस विभाग में आएदिन कुछ सिपाही, दारोगा बदमाशों, डकैतों के साथ उठते-बैठते देखे जाते है। ये बातें शायद कुत्ते को अच्छी नही लगती हैं।

कुत्ता पुलिस विभाग के किसी व्यक्ति पर भौकता है तो जरा सावधान हो जाना चाहिए। कुत्ते का भौंकना मायने रखता है। कुत्ता किसी की चापलूसी करने के लिए नही भौंकता। वह किसी से रिश्वत लेकर नही भौंकता। भ्रष्टाचार की इस शताब्दी में यही तो अकेला जीव है, जो साफ-सुथरा कहा जा सकता है। सच बात तो यह है कि वह नोबेल प्राइज का हकदार है।

वास्तव मे कुत्ता भौकने के मामले में निष्पक्ष और बहुत ईमानदार जीव है। फिर गली-गाँव का कुत्ता तो एकदम सोशल वर्कर होता है। वह जनता के बीच रहकर जन-मोरचा सँभालता है।

□

गड्ढों में लोटपोट



अखबारों में आएदिन छपता है कि फलाँ के निधन से समाज मे गहरा गड्ढा हो गया और एक स्तंभ ढह गया। फलाँ के दिवंगत होते ही पूरी जाति और वर्ग विशेष अनाथ हो गया। खासतौर पर जब कोई नेता स्वर्गलोक सिधार जाता है तो अखबारों में जैसे कुछ रह ही नहीं जाता है, सिवाय निधन से हुए गड्ढे के।

ऐसे में पाठकों को भी लगने लगता है कि सचमुच ही कही गड्ढा हो गया होगा। कहीं कोई खंभा ध्वस्त हो गया होगा। हर कोई एक लंबा सा बयान शोक-संवेदना में लपेटकर अखबार के दफ्तर में चला आता है। इन बयानों में शोक-संवेदनाएँ कम होती हैं और मुहल्ले या पार्टी के छपास-पीड़ितों के नाम अधिक होते हैं। इन छपास-पीडितों द्वारा नाना प्रकार से चिरौरियाँ की जाती हैं। समाचार संपादक को ख़ुश करने के लिए ये लोग मिठाई का डिब्बा भी लाते हैं। कोशिश यही रहती है कि किसी तरह से अखबार में नाम छप जाए। अख़बार में जब संवेदनावाली खबर छपती है तो छपवानेवाले केवल अपना नाम देखते हैं।

छपास-पीड़ित जब शोक-संवेदना की खबर लेकर पहुँचते हैं तो समाचार संपादक मुश्किल में पड जाता है। मुश्किल यह रहती है कि वह समाचार छापे या शोक-सतप्तों की लंबी सूची। वास्तव में ऐसी

शोक-संवेदनाओं मे भावनाएँ कम और नामों की फेहरिस्त बहुत लबी होती है। इन पचासों नामों को छपवाने के लिए छपास-पीड़ित पचासो बार सपादक और दफ्तर का घेराव करते हैं। नाम छपवाने के लिए तरह-तरह के रास्ते अपनाए जाते है। शहर के छुटभैयो की मदद लेनी पडती है, संपर्क साधने पड़ते हैं। इतने प्रयासों के बाद अगर अखबार मे नाम छप जाता है तो छपास-पीड़ितों को बहुत राहत मिलती है। ऐसा लगता है कि दवाई मिल गई हो।

लेकिन जब कभी किसी का नाम छपने से रह जाता है तब वह सचमुच शोक-संतप्त दिखाई देने लगता है। दुःख का गहरा गड्ढा उसके चेहरे पर प्रकट हो जाता है। वह अखबारवालों के खिलाफ पीठ पीछे बयानबाजी भी करने लगता है। अखबारवाले किसी भी छपास-पीड़ित को दुःखी करना नही चाहते; लेकिन फिर भी किसी-न-किसी का नाम शोक-संतप्त सूची में छपने से रह ही जाता है। जिनका नाम नहीं छप पाता है, वे फिर से प्रयास शुरू करते हैं। फिर से एक शोक की घड़ी का इतजार होता है। शोक की घडी जब आती है तो अखबारवालो को याद दिलाया जाता है कि पिछली बार आपने मेरा नाम नहीं छापा था, कृपया इस बार छाप दीजिए तो बड़ी प्रसन्नता होगी।

दरअसल बात समाज में किसी स्तंभ के टूटने और ढहने की हो रही थी, समाज में गड्ढा होने की हो रही थी। आज तक न जाने कितने स्तंभ टूटकर गिरे हैं, जिनसे गहरे गड्ढे हुए हैं। ऐसे मे चिंता यह होती है कि यह मेरा समाज कही बिना खंभों के ही तो नहीं खड़ा है। कहीं समाज के ऊपर अकेली छत ही तो नहीं रह गई है? लेकिन फिर सोचता हूँ कि खंभों या स्तभों के बिना कोई छत हवा में कैसे टिकी रह सकती है? हवा में लटकती छत आज तक किसी ने नही देखी है। कई बार ऐसा भी लगता है कि स्तंभों के गिरने से जो गड्ढे हुए हैं, उनमें समाज में बचे हुए बाकी लोग गिर गए हैं। जिधर देखो उधर गड्ढा ही नजर आता है। राजनीति में तो बड़े-बड़े गड्ढे हैं, अनेक राजनेता गड्ढों में ही गिरते-पडते रहते हैं। गड्ढों में ही घर बनाकर वहीं लोटपोट होते रहते हैं। अब

तो राजनीति मे किसी बड़े स्तभ के गिरने ओर एक नए गड्ढे के निर्माण का इंतजार किया जाता है। जब गड्ढा हो जाता है तो फिर उस गड्ढे मे पूरी एक पार्टी गिर जाती है। जब कोई बडे सत-महात्मा ससार छोड जाते हैं तो उनके द्वारा पैदा किए गए गड्ढे या शून्य में उनके चेले लुढ़क जाते हैं। हर ओर जिसे देखो वही गड्ढों में लुढका जा रहा है। ये गड्ढे बहुत ही खतरनाक साबित हो रहे हैं।

शोक-संवेदना में यह भी लिखा जाता है कि फलाँ स्तंभ का गिरना अपूरणीय क्षति है। अपूरणीय क्षति का मतलब यह है कि जो स्तंभ गिर गया, उसकी जगह कोई नही भर सकता। कोई भी स्तंभ गिरकर वापस खड़ा नहीं होता। ऐसे में मन मे यह सवाल आता है कि छत या समाज कैसे टिका है? इस बात पर विचार होना चाहिए।

अभी तक न जाने कितनी महान्-से-महान् हस्तियाँ संसार से विदा हो चुकी हैं। भारी-भारी खंभे कहने को गिर गए, ढह गए, लेकिन समाज फिर भी बरकरार है, दिखाई देता है। समाज तब भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। फिर क्यों कहा जाता है कि समाज गड्ढों से भर गया है, समाज के स्तंभ ढह गए हैं? मुझे लगता है कि खंभों के गिरने में कहीं कोई घपला है, अन्यथा समाज होता ही नहीं। इस घपले की जाँच जरूरी है। जिम्मेदार लोग इसकी जाँच कराएँ, दोषी लोगों को दडित कराएँ। देखिए जनाब, मुझे जरूर बताइएगा कि खंभों के गिरने के बाद भी छत (समाज) कैसे कायम है? बताइएगा कि समाज है अथवा वह भी कहीं गिर गया है? गड्ढों की बहुलता होने से पृथ्वी चंद्रमा का पर्याय तो नहीं हो गई है? सचमुच, हकीकत जानने को मैं बेताब हूँ।

□

आओ, राष्ट्रीय अध्यक्ष बनें



मेरा एक मित्र है। वह अपने लड़के की परेशानी से परेशान रहता है। दरअसल मित्र का पुत्र बेकारी की बीमारी से पीड़ित है। बहुत दिनो से वह हर जगह जूते घिस रहा है। दफ्तरों व संस्थानों में ट्राई मार चुका है। समूह ग में भी रह गया। कही भी आशा की किरण नहीं दिखी कि उसे जूते बदलने के लिए काम मिल जाता। जहाँ कही कोई आशा दिखती है, वहाँ पहले से ही पहुँचवाले पहुँच जाते हैं। बिना पहुँच के वह कहीं नहीं पहुँच सका है। मित्र के पास न पैसे की पहुँच है, न किसी वी.आई.पी. की पहुँच है। इसलिए वह बड़ा दु:खी रहता है। मित्र ने लड़के की शादी कर दी थी, सो दो लोगों की अनेक जरूरतों-परेशानियो के सागर हहराते रहते हैं।

अकसर मुझे मिलता है तो तरह-तरह की समस्याएँ बताने लगता है। आज भी मिला तो लड़के की बेकारी की बीमारी से जनमी परेशानियाँ बताने लगा। कहने लगा कि यार, कोई रास्ता बताओ। तुम्हारा ही भतीजा है। उसे कहीं धंधे पर लगाओ।

तभी मैंने यकायक सोचकर उससे कहा, 'यार, लड़के को राष्ट्रीय अध्यक्ष क्यों नहीं बना देते? जब तक कोई नौकरी या धंधा नहीं लगता, राष्ट्रीय अध्यक्ष बना रहे।'

'क्या मतलब?' मित्र चौंका।

मतलब यह कि कोई सस्था, सगठन बना लो और उसे राष्ट्रीय अध्यक्ष बना दो।'

'कौन बनाएगा उसे राष्ट्रीय अध्यक्ष? अध्यक्ष तक तो बनाएगा नही कोई।' वह हताश होकर बोला।

'अरे भाई, राष्ट्रीय अध्यक्ष होने के लिए किसी की जरूरत नही। स्वयंभू होना है। कई लोग स्वयंभू राष्ट्रीय अध्यक्ष हैं अपने शहर में। हर शहर में बने हुए हैं राष्ट्रीय अध्यक्ष।' मैंने बताया।

'पर उसके लिए कुछ लोग तो हों, जिन्हें लेकर संगठन बनाऊँ।' वह बोला।

'किसी की जरूरत नहीं। बिना एक आदमी के राष्ट्रीय और अतरराष्ट्रीय अध्यक्ष बना जा सकता है। एक हैं. वे अकेले ही अंतरराष्ट्रीय स्तर के अध्यक्ष बनकर अखबारों में बयान बहादुर बने हुए हैं। रोज प्रेस-वार्ताएँ करते हैं।' मैने मित्र को जानकारी दी।

अपनी जनरल नॉलिज बढती हुई देख वे उत्साह से भर गए। पूछा, 'पर इससे फायदा?'

'फायदा यह कि लोग (बेकार जिनमें अधिक) जुड़ेंगे।'

इन सबसे मंस्था-सदस्य के नाम पर चंदा लो। कभी जलसा कराओ और सबसे फिर चंदा वसूलो। अपने देश में भामाशाहों की कमी नही, खुलकर चंदा देने को तैयार रहते हैं।' मैने उसे रहस्य बताते हुए कहा, 'हिकमत से काम लोगे तो सरकार भी अनुदान देगी। सरकार से अनुदान और समाज के लोगों से लगान लेते ही रहो। यही तो राष्ट्रीय अध्यक्ष होने का रहस्य-लाभ है।'

गीता-रहस्य की भाँति राष्ट्रीय अध्यक्ष होने का रहस्य पाते ही मित्र की खुशी से घिग्घी बँध गई। वह हकलाकर पूछने लगा—

'काल का कोई निश्चय है? कब बनाऊँ संस्था और कब बनाऊँ लडके को राष्ट्रीय अध्यक्ष?'

'मित्र, शुभस्य शीघ्रम्। अभी बना लो कोई संगठन। और न भी हो संगठन, क्या फर्क? बस पहले राष्ट्रीय अध्यक्ष होना जरूरी है।

राष्ट्रीय अध्यक्ष नही होगा तो काहे की सस्था ओर काहे के सदस्य? सबकुछ राष्ट्रीय अध्यक्ष में समाहित है, मित्र।'

तभी मैंने उसकी समस्या का समाधान करते हुए बताया, 'न हो, किसी चलती हुई दूसरी संस्था या संगठन को हथिया लो। उसका राष्ट्रीय अध्यक्ष स्वय को घोषित कर दो। फिर जो खडन-मंडन होगा तो चर्चा में रहोगे। इसका लाभ यह भी मिलेगा कि जिले के राजनीतिक दल संपर्क साधेगे। आगे अनेक फायदे ।' यह सुनते ही मित्र किलक उठा ओर नाचने लगा, 'बिना ही बात मुसकराए रे मेरा मन' गाता हुआ कूदने भी लगा। उसके चेहरे पर एक अभूतपूर्व आलोक छा गया, एकदम राष्ट्रीय अध्यक्ष होने जैसा, क्योंकि वह राष्ट्रीय अध्यक्ष का बाप होने जा रहा था।

राष्ट्रीय अध्यक्ष के बाप को प्रथम बार मैंने देखा तो मैं भी गर्वित हुआ। अपनी साइकिल पर ऐसे चढ़ गया जैसे चेतक पर सवार हो गया हो। घंटी बजाता, गर्व से सीना ताने चलता गया, क्योंकि शहर में एक और स्वयंभू राष्ट्रीय अध्यक्ष और उसके बाप का इजाफा होने जा रहा था।

☐

सड़क पर पड़ा हुआ पाठकीय



पिछले दिनों घर जाते समय रास्ते मे मुझे एक परचा मिला। यह रास्ते में बीच सड़क पर चार परतों में तह किया पड़ा था। मैंने उसे देखकर अनदेखा कर दिया। दरअसल, कुछ लोग यों ही रास्ता चलते लोगों को बेवकूफ बनाने के लिए ऐसा करते हैं। जब कोई उसे उठाता है तो उसमें मजाकिया बातें लिखी होती या फिर भद्दी-भद्दी गालियाँ। इस परचे की इबारत पढ़कर जहाँ उसे उठाने-पढ़नेवाला खीजता और बोर होता है, वहीं इधर-उधर छिपे बैठे लोग ठठाकर हँसते दिखाई देते हैं। तभी मैंने अनुभव किया कि रास्ता सुनसान था, सर्दी का सन्नाटा। शाम गहरा गई थी। मैं जिस गली में सड़क पर से जा रहा था, उधर आवागमन लगभग शून्य ही था, इसलिए मैं जाते-जाते लौट आया और उस परचे को उठाने का मोह प्रबल हो उठा। परचा काफी साफ-सुथरा और मोटा मालूम पड़ रहा था।

मैंने सोचा कि किसी का कोई खास कागज हो सकता है, जो गिर गया है। प्रायः अखबारों में कागजात गुम होने की सूचनाएँ छपती हैं। महत्त्वपूर्ण कागज पर इनाम देने की घोषणा भी अखबार में कराई जाती है। मैंने सोचा कि आजकल हर आइटम में, हर चीज में इनामी योजना है। मेरा आज तक कहीं कोई इनाम नहीं आया। मुझे अपने आप पर शर्म आती कि कैसा इनसान हूँ, जो आज तक किसी भी इनामी योजना में

लाभान्वित नहीं हो सका। एक मेरे मित्र हैं, वे पत्नी के लिए ले गए। लक्स साबुन में सम्मानित हो गए—सोने का सिक्का पा गए। दरअसल, कसूर मेरा भी है। प्रयास करता तो शैंपू में ही इनाम पाकर समाज में सिर उठाकर चलने लायक हो जाता। आज दशा यह है कि गली मे आँख झुकाए निकल जाता हूँ, ताकि किसी सम्मानित उपभोक्ता से नजरें चार नहीं हो जाएँ। खैर।

मैं उस परचे की बात कर रहा था, जो सड़क पर चार परतो मे तहा हुआ पड़ा था। हो सकता है, मेरी नीची नजरों को गर्व से उठाने के लिए बेचारा वह कागज किसी की जेब या फाइल से गिर पड़ा हो। बहरहाल, मैंने इधर-उधर, ऊपर-नीचे देखकर वह कागज झपटकर उठा लिया। उसे खोलकर पढ़ता हुआ अपने घर की तरफ चलता चला गया। पढते ही मैंने माथा पीट लिया। मैं कोई भी पुरस्कार पाने से वंचित रह गया। वह एक पत्र था, जो किसी पाठक ने एक स्थानीय समाचार- पत्र के सपादक को लिखा था। पत्र के लेखक ने पत्र में न तो समाचार- पत्र का ही नाम लिखा था और न ही अपना नाम। अपने नाम की जगह उसने आपका शुभेच्छु लिख दिया था। हो सकता है, उसने पत्र को लिखने के बाद लिफाफे में रखकर लिफाफे पर समाचार-पत्र का और प्रेषक की जगह अपना नाम लिखना चाहा हो, लेकिन इससे पूर्व उससे यह पत्र इस जगह गिर पड़ा है।

मेरे भीतर नैतिकता का बोध जाग गया। उत्तरदायित्व की भावना प्रबल हो गई। एक पत्रकार-लेखक होने के नाते मैं पत्र यहाँ प्रकाशित किए दे रहा हूँ। पत्र-लेखक का परिश्रम तथा उद्देश्य सफल हो जाएगा, यह विचार करके। पत्र इस प्रकार है—

बंधुवर,

आपका अखबार जनसाधारण के कल्याण के लिए है। यही मानकर समालोचना लिख रहा हूँ। पत्र का कागज इतना बढ़िया है, उससे उत्तम आपकी सदेच्छा कि वह निर्भीक, निष्पक्ष और प्रदेश-स्तर का है। लेकिन आपके समाचार-पत्र की छपाई तथा सामग्री की प्रस्तुति

निहायत ही घटिया स्तर का है शायद यह सपादकजी के घटिया माहल्ले मे निवास का दुष्प्रभाव हो। प्रिंट की त्रुटियाँ हैं या हिंदी का विकास हुआ है, समझ नही सकता। अगर नई पीढ़ी 'बेटे' को 'मेटे', 'लोटा' को 'नोटा', 'आड़' को 'आढ़', 'कुंभ कर्ण' को 'कुंभगज' लिखना सीख जाए तो इसमें आपके पत्र का ही योगदान होगा। इसके लिए आप वंदनीय होगे। यदि ऐसा नहीं है तो पत्र को वयस्क पत्रिकाओ की भाँति पिन लगाकर वितरित किया करें, वह भी बंद लिफाफे में, ताकि छोटे बच्चे (के.जी. कल्चर के) इसके हिंदी-प्रहार से बच सकें।

आपके पत्र मे लगभग हर लाइन ठीक वैसे ही गलत और टूटी-फूटी है जैसे शहर की तमाम सड़कें व गलियाँ। आपके अखबार ने प्रमाणित कर दिया है कि हिदी के सर्वनाश में नेताओ के साथ-साथ उस जैसे समाचार-पत्र का भी भरपूर योगदान है।

सचमुच धन्य हैं आप! जो आपने हिंदी की डाल पर बैठकर हिंदी की छीछालेदर करने की प्राणपण से ठानी हुई है। मेरी कामना है कि आप ऐसे तमाम अखबारों के संपादकों में सिरमौर बनें—कुलपति बने। हिंदी की दुर्दशा करने में आपको सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो, इसलिए ईश्वर आपको दुर्बुद्धि प्रदान करें। आपकी सहायता हेतु ईश्वर से प्रार्थना करने में जुटा।

—आपका शुभेच्छु।



जुलूस

२ अक्तूबर का दिन। दोपहर ढले का समय। गांधी जयंती का नजारा लेता हुआ मै शहर की प्रमुख सड़कों को नापकर अभी नगरपालिका के फाटक के पास आकर खड़ा हुआ कि पालिका के अहाते से आनेवाली आवाज सुनकर सचेत हुआ। कुछ चौंक भी गया।

एक व्यक्ति कह रहा था, 'जरा कसकर बाँधना, कसकर।'

किसे बाँधा जा रहा है? मैंने इधर-उधर देखा तो कुछ विशेष दिखाई नहीं दिया।

'अरे यार, तुम भी खूब हो! जरा मजबूत रस्से से कसो।' पुन. यह आदेश वाक्य सुनकर मेरी आँखें 'सर्चलाइट' हो गई। नगरपालिका के प्रागण में कुछ ताँगे और एक भैंसागाड़ी खड़ी थी। ताँगे पर पीछे गांधीजी की एक बड़ी सी फ्रेमयुक्त तसवीर जड़ी थी। एक कार्यकर्ता टाइप व्यक्ति 'गांधी' को कस रहा था। उसके पास ही खड़ा हुआ एक अधिकारीनुमा व्यक्ति किसी खद्दरधारी से कुछ बातें करता हँस रहा था।

मैं समझ गया कि गांधी को सजाया जा रहा है; उनका जुलूस बनाया जा रहा है। कई गांधी दीवार से सटे हुए थे। कई वहाँ प्रागण में पड़ी एक बड़ी सी मेज पर लेटे पड़े हुए थे। कुछ गांधी कसे जा चुके थे, कुछ ताँगों और भैंसागाड़ी पर लादे जा रहे थे। कुछ वर्कर्स हड़बड़ी में गांधी को लिये इधर-से-उधर भागे जा रहे थे।

मुझे बिलकुल लगा कि सचमुच गांधी जयंती है। एक साथ कई गाधी प्रकट हो चुके थे। एक विचित्र किंतु सत्य बात नजर आई कि कुछ गाधी छोटे थे और कुछ बड़े; परतु सभी गांधी मुसकरा रहे थे। मुझे अचरज हुआ कि गांधी इन हालात में भी मुसकरा रहे हैं। मुझे लगा कि मुसकराना महात्माओं की विवशता है। वे हर हाल में मुसकराते ही है। वे अपनी महानता पर मुसकराते हैं या दूसरों की लघुता पर, यह मैं नहीं जानता।

गांधी छोटे-बड़े सभी साइजों मे होते हुए भी अपनी मुद्रा एवं उम्र को एकदम स्थिर एवं निश्चित किए हुए थे। यानी सभी साइजों में वृद्ध लग रहे थे। तभी शायद उस जुलूस के संयोजक महोदय बरस पडे, 'फोड़ दिया गांधी को।'

देखा तो ताँगे पर कसी जानेवाली तसवीर कड़कड़ाकर टूट चुकी थी। गांधी नीचे गिर पडे थे। उनपर काँच के टुकड़े बिखरे पड़े थे। गाधीजी की आँख में एक कॉच का टुकड़ा घुस गया था। वे काने हो गए थे, फिर भी मुसकरा रहे थे। गांधी को तॉगे पर कसनेवाला युवक हक्का-बक्का खड़ा था।

वह खद्दरधारी व्यक्ति बडबड़ाने लगा, 'अबे मूर्ख, इतना कसने को थोड़े ही कहा था कि तोड़कर रख दो। अब कहाँ से आएँगे ऐसे गांधी ?'

इसी बीच एक दूसरे तेज-तर्रार दिखनेवाले युवक ने नजदीक आ मुसकराकर कहा, 'अभी एक और खरीद लाता हूँ। बीच-पच्चीस में मिल जाएँगे ऐसे ही चिकने गांधी।' और वह चिकने गांधी लेने चला गया। पड़े हुए गांधी को उठाया और उनकी गुड़ी-मुड़ी बनाकर 'कूडा यहाँ डालिए' में डाल दिया।

जुलूस लगभग तैयार था। लोगों को 'गांधी आदर्श वाक्य' थमाए जाने लगे। लोगों में अधिकांश सरकारी कार्यालय तो 'वाक्यों' को लेकर चलने में आनाकानी कर रहे थे; मगर अफसरों और नेताओं की ऑखें देख उन्होंने खिस-खिस हँसी दिखाकर उन्हें ले लिया। कुछ लोग पोस्टर लिये भरमाए-से लगे। इसी बीच जब कुछ घेर-घारकर लाई गई महिलाओ ने चरखा कातते गांधी अपने सामने सीने पर धोती के पल्लू पर टॉक

लिये, तो शरमाए-से खडे लोग बेशर्म हो उठे और सतर्क होकर खडे हो गए।

कुछ महिलाएँ अपने हित एवं लाभ के लिए पोस्टर पकड़े हुए घर की बातें करने लगी थीं। उनमें से एक का स्वर तीखा और पैना होकर मेरे कानों में बिंध रहा था, 'मैंने तो 'उनसे' कह दिया है कि अब हम अलग ही रहेंगे। बँटवारा करके ही छोडेंगे। यह भी कोई बात हुई कि '

'मारो साली के डंडे। बाहर तक खदेड़ दो।' यकायक सुनकर मैं चौंक पड़ा। अब तक मैं जुलूस का पूरा जायजा लेने हेतु नगरपालिका प्रागण में धँसकर एक पेड़ के नीचे आ चुका था।

नगरपालिका प्रांगण में भगदड़ मच गई थी। महिलाएँ 'हम निर्भीकता से आगे बढ़ेंगी' का पोस्टर लिये पीछे की ओर अगल-बगल सरकने लगी थीं। पोस्टर तभी जमीन पर नीचे गिर पडे। इसी बीच एक युवा कार्यकर्ता एक गाय को डंडे से पीटता-खदेड़ता हुआ आया। आगे-आगे गाय और पीछे-पीछे कार्यकर्ता। गाय पोस्टर रौंदती हुई बाहर 'आगे की ओर' बढ़ गई।

गाय के बढ़ते ही महिलाओं ने आगे बढ़कर अपने-अपने पोस्टर झाड़ते हुए उठा लिये। फटे हुए पोस्टर चिपकाए या बदले जाने लगे।

असल में हुआ यह कि न जाने कहाँ से एक गाय अंदर पालिका प्रांगण में घुस आई। फिर वह भैंसा गाडी पर केलों के पत्तो में ढके गांधी को सींग मारकर गिरा गई और पत्ते चरने लगी। तभी जब देखा गया तो 'दे-तेरी की' मच गई।

काफी यत्न के बाद झाड़-पोंछकर गांधी को फिर खड़ा किया गया। इस बार उन्हें केले के पत्तों से नहीं, 'चंपा के हार' से सजाया गया।

जुलूस अब लगभग तैयार हो गया था। संयोजक महोदय ने खास-खास गांधी की तसवीरों को आगे-पीछे किया और बीच में तरह-तरह के गांधी एडजस्ट किए। कुछ स्कूलों से बच्चे भी मँगवा लिये गए थे, जो आकर शोर मचाने लग गए थे।

ताँगे पर लदनेवाले वे गांधी भी अब तक मजबूत प्लास्टिक की

डारी से कसे जा चुके थे। तभी मुझ लगा कि वह बेहद अकुलाहट और कष्ट अनुभव करने लगे थे; क्योंकि वह बुरी तरह कसे थे।

न जाने क्यो और किस प्रेरणावश मैं यहाँ ताँगे के पास गाधी की तसवीर के सम्मुख चला गया। मस्तक झुका उनसे मन-ही-मन कहने लगा, 'अब समझा बापू, तुम चश्मा क्यों चढ़ाते थे? शायद दूर का देख नही पाते थे। लकड़ी का सहारा क्यों लिया? क्योंकि पल-पल तुमको गिरने का भय था। बापू, तुम दुबले थे, इसीलिए भाई तुम्हें अहिंसा की लडाई। तुमने एक काम बुरा किया, जो जीवन भर बकरी का दूध पिया। वही हेरेडिटी हममें समा गई। ओलंपिक में हम अकसर हारे। सच बापू! भैंस और डिब्बे के दूध पीनेवाले विदेशी हम पर दहाडे। बापू, तुमने यह सब क्यों किया?'

सहसा मैं चौंक पडा। चेतनावस्था में गया। ताँगे की गति के साथ गांधी की तसवीर मुझसे दूर होती चली गई। जुलूस नगरपालिका के प्रांगण से बाहर शहर की सड़कों पर खिसकने लगा।

जुलूस का निर्देशन करते हुए खद्दरधारी संयोजक महोदय मुझे गांधी से भी महान् लगने लगे, जो इतने सारे गांधियों के जुलूस को कमांड किए चल रहे थे। वह काफी प्रसन्न होते हुए बगल में चार-छह गांधियों को ऊपर खिसका लेते, जो वे दबाए हुए थे। पता नहीं कब, कहाँ और कौन से गांधी टूट-फूट जाएँ। संयोजक जी मुझे दूरदर्शी लगे। हालाँकि वे चश्मा नहीं चढ़ाए हुए थे। बीच-बीच में वे दौड़-दौड़कर सभी गाधियों को इत्मीनान से देख आते। ठीक से हैं सभी गांधी, उन्हें इत्मीनान हो जाता। फिर वह इधर-उधर देखते हुए किंचित् मुसकान के साथ बगल में दबे हुए एक्स्ट्रा गांधियों को और कसकर दबा लेते और जुलूस का संचालन करते चलने लगते।

गांधी के जाते जुलूस को देखता हुआ मैं काफी देर तक वहीं खड़ा रहा।

□

सभाओं का रेखागणित



बाजार से लौटते हुए एक जगह मैदान में भीड़ को एकत्र देखकर मैं रुकता हूँ। शाम गहरा गई। बाजार जगमगा रहा है, यह देखकर मै मुदित हूँ। मुझे विश्वास हो जाता है कि अवश्य इस समय नगर में कोई मत्री या विधायक नहीं तो फिर सासद का आगमन हो चुका हैं, वरना शाम होते ही शहर विद्युत्-विहीन विधुर-सा हो जाता हैं।

मैं मैदान में भीड़ की ओर देखता हूँ। भीड़ में तमाम बंदूकें, मशीनगनें आदि तनी हैं। मैं लगभग दो फर्लांग की दूरी से ही एक व्यक्ति से पूछता हूँ, 'क्या कोई दस्यु-समर्पण समारोह हो रहा है?'

'नहीं भाई।' वह व्यक्ति मेरी ओर देखता है।

'फिर क्या किसी दस्यु-प्रधान फिल्म का कोई दृश्य फिल्माया जा रहा है?' मैं पुनः पूछता हूँ।

'न-न, यहाँ शहर के बीच में शूटिंग कहाँ।' वह व्यक्ति मेरी ओर देखकर हँसता है।

'फिर भैया, ये क्या है?' मैं हैरत से उसकी ओर देखकर पूछता हूँ, 'ये लोग इधर-उधर दुकानों और मकानों के साये में दुबके-से उधर वहाँ मंच की ओर क्या देख रहे हैं? ये मंच पर कौन चीख रहा है? आखिर ये इतनी पुलिस और तमाम व्यक्ति हथियारों से लैस क्यों?'

'ये लोकदल की सभा हो रही है।' वह व्यक्ति मेरी ओर व्यंग्य से

देखकर मुझे बताता है, 'ये लोकदल समारोह है।'

'लोकदल?'

'हॉं, लोकदल 'अ'।'

'ये लोकदल 'अ' क्या है?'

'जो लोकदल 'ब' नहीं है।'

'लोकदल 'ब' क्या है?'

'जो 'अ' नहीं है।'

मुझे बड़ा अजीब लगा है ये 'अ' 'ब' का रेखागणित। मैं पूछता हूँ, 'क्या लोकदल 'म' भी है?'

'नहीं भाई, लोकदल 'म' तो 'ब' में ही है।' वह कहता है? मुलायम सिंह से मतलब है न तुम्हारा?

'हाँ भई, हाँ!' मैं कोल्डरिनवाले विज्ञापन के नायक की भाँति खीझकर स्वीकारता हूँ।

''म' 'ब' के साथ है और 'अ' अकेले है। ये 'अ' यानी अजित सिंह की सभा है।'

'अजित सिंह?'

'ये चौ. च. के बेटे हैं।'

मैं अ, ब, म, चौ. च के रेखागणित से यकायक घबरा उठता हूँ। आगे बढ़ने लगता हूँ। तभी मेरे कानों में आवाज पड़ती है, 'मेरी सभा में बहादुर लोग ही आ सकते हैं।'

ठीक कह रहे हैं कहनेवाले। मैं मन-ही-मन उनका समर्थन करता हूँ। बंदूकों, तमंचों और गोला-बारूदी सभाओं में दिलवाले और बहादुर लोग ही जा सकते हैं। एक जमाना था, जब नेताओं के आगमन पर सभाओं में फूल-मालाएँ महकती थीं, अब बारूदी गंध और अ, ब के रेखागणित से दिमाग भन्नाने लगता है।

भला श्रोता और लोग अब सभाओं में जाने की अपेक्षा अखबार पढ़कर अपना शुभ-लाभ समझते हैं तो ठीक ही समझते हैं। सभाओं में जाने का खतरा कौन मोल ले? न मालूम कब बंदूकें चल जाएँ, साँप

निकल आएं, गैसे फैल जाए, लाठिया और डडे चल जाए—और न जाने क्या-क्या हो जाए!

अब भला इन सबसे मुकाबला करने का हौसला हो तो सभाओं में फिर कोई चाहे अ की तरफ जाए, चाहे ब या म की तरफ या फिर अन्य किसी रेखागणित वाली किसी सभा में जाए। मुझे क्या, मैं चल पड़ता हूँ, 'न ऊधो का लेना न माधो का देना।'

□

सामूहिक बोध

मेरा एक मित्र सदैव कहा करता है—समाज से सामूहिक बोध का कतई लोप हो गया है। लोग निरे स्वार्थी एवं व्यक्तिवादी हो गए हैं। किसी को समाज और समूह की परवाह नहीं रही।

वह ऐसी तमाम बातें करता है। अन्य साथी हँसते हैं उसपर। पागल है वह। आखिर समाजशास्त्र से एम.ए. किया है न। तभी हर बात में समूह, समाज और देश को ले आता है। असल में ये सब समाजशास्त्री के संस्कारी शब्द हैं—'समूह', 'भीड़', 'राष्ट्र', 'व्यक्ति' आदि-आदि। इनसे परे वह हट नहीं सकता। इन्हीं में फँसा रहता है एक समाजशास्त्री।

पर समाजशास्त्री और मेरा दोस्त यदि मेरी दृष्टि से देखे, तो पाएगा कि समाज में सामूहिक बोध जागा है, बढ़ रहा है निरंतर।

सामूहिक हत्याएँ, सामूहिक बलात्कार जैसी घटनाएँ, जो अपराध-जगत् में आग की भाँति फैली हैं तो सामूहिक बहिष्कार और सामूहिक इस्तीफों का चलन जोरों से राजनीति में चालू हुआ है। चहुँ ओर सामूहिक बोध अकुलाकर उठ खड़ा हुआ है। अभी जो 'मानहानि विधेयक' पर देश भर में सारे अखबारों का सामूहिक स्थगन रहा, इससे मेरे मित्र को काफी राहत मिलनी चाहिए। सामूहिक बोध का भारी उदाहरण है यह।

किंतु कुतर्की है मेरा मित्र। कह सकता है कि ये सारे बोध तो

नकारात्मक और विध्वंसात्मक हैं। अखबारों में जागा सामूहिक बोध अपवाद है। ये हत्याओं, बलात्कारोंवाला बोध दुर्जनों का बोध है। और न जाने क्या-क्या कह सकता है वह।

अब भैया, उसे कौन समझाए कि रात के बाद दिन, दुःख के बाद सुख और शीत के बाद वसंत—ये तो प्रकृति है। आज दुर्जनों का सामूहिक बोध जागा है तो कल सज्जनों का जागेगा। अखबारों में जागा बोध अपवाद है तो कल सामान्य होगा। दरअसल, अखबार ही होते हैं, जो समाज में सही और सामूहिक भाव जाग्रत् करते हैं। यदि वे आज जाग गए हैं तो सच मानिए, कल समाज जरूर सामूहिक बोध से लबालब होगा।

आशा है, मेरा मित्र जरूर खुश होगा अब।

□

आज का नायक-युवक

भाइयो और बहनो! आपके सामने जो युवक खड़ा है; यह आज की पीढ़ी का नायक है। पता नहीं क्यों, इससे तमाम लोग असंतुष्ट हैं। वे कहते हैं कि चौड़ी बेलबाटम और बड़े-बड़े बालोंवाली यह पीढ़ी और इसका नायक हर तरह से नकारा है, एकदम आवारा।

पर मैं इस युवा पीढ़ी की वकालत करता हूँ। यह कुछ भी कर सकने में समर्थ है। इसने क्या नहीं किया? हर स्थिति को स्वीकारा। इसने आदिकाल से लेकर आधुनिककाल तक समयानुसार हर फैशन को झेला। धोती-कुरता, लुंगी, गमछा और पतली मोहरी की पैंटें पहनीं। ऊँची-ऊँची दुनिया की दीवारों की तरह बुशर्टें और टीशर्टें पहनीं। नोंकदार, शोलापुरी, चमरौधे-जूते पहने। और अब बेलबॉटम लटकाया। लंबा कुरता और जफिंन पहन लंबे बाल रखाए, पैसे बचाए, देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ किया। लंबी कलमें, दाढ़ी बढ़ाकर 'परिवर्तन प्रिया: मानवा:' की उक्ति सत्य चरितार्थ की।

मुझे याद है—जाड़े के दिन थे। पिछले वर्ष मुझे यह युवक सड़क पर दौड़ता हुआ मिला था—एकदम अलस्सुबह। मैं भ्रमणार्थ निकला था। यह दौड़ लगाता, हाँफता हुआ चला आ रहा था। मैंने समझा कि कुत्ते इसका पीछा कर रहे हैं, अत: इसे रोककर कुत्तों पर अपना बेंत तान लिया। कुत्ते और तेज होकर भाग गए थे। तब बाद में

पता चला कि कुत्ते इस युवक का पीछा नहीं कर रहे थे। युवक ही कुत्तों की तरह तेज दौड़ने की कोशिश कर रहा था। वह सब-इंस्पेक्टरी की तैयारी कर रहा था। वह दौड़ लगा-लगाकर अपने को दरोगा बना रहा था।

दूसरे दिन यह फिर मिला। बातों-बातों मे इसने बताया था कि यह बी.ए. भी कर रहा था। इसके साथ ही फॉरेस्ट-ऑफिसरी की तैयारी के लिए किताबें भी मँगा चुका था और इंटर साइंस बायलॉजी से करने के पश्चात् निरंतर मेडिकल (पी.एम.टी.) की परीक्षा भी देता आ रहा है।

लेकिन प्रिय भाइयो! आज की ताजा खबर यह है कि यह युवक बस-कंडक्टरी का भी फॉर्म भर चुका है और इसने तीसरी भेंट में मुझे शाम के धुँधलके में शरमाकर बताया था—मैं एक लड़की से प्यार करता हूँ। यह इसने इसलिए बताया था कि मैं इसकी प्रेमिका के लिए एक प्रेम-पत्र (इसकी ओर से) लिख दूँगा। क्योंकि वह खुद बढिया भाषा से युक्त प्रेम-पत्र लिखने में असमर्थ है तो वह दरोगा होने के लिए चक्कर-पे-चक्कर लगाते-लगाते अब प्यार के चक्कर लगाने लग गया था।

फिर कुछ दिनों वह अज्ञातवास में रहा। मैं प्राय: उसके बारे में सोचता रहा। यही पीढ़ी है और यही नायक है, जो डॉक्टर बनने की सोचता है, मगर बस-कंडक्टरी का फॉर्म भर देता है। एम.एस सी फर्स्ट पास होकर टाइपिस्ट बनने की सिफारिश के लिए आता है। पर यह तो बड़े ही जीवट का कार्य है। इसे यही नायक और यही पीढ़ी कर सकती है। हर कोई यह नहीं कर सकता।

हाँ, तो मैं इस नायक की बात कर रहा था। नौ महीने बाद यह फिर मिला। आज उसने मुझे बताया है कि इसने अटैची की दुकान कर ली है। अटैची बनाने लगा है। सही किया, अटैची मारने से तो अच्छा अटैची बनाना है। शरीफाना धधा है।

प्यारे बधुओ! जाहिर है, आज के इस नायक ने आरंभ से

लेकर अब तक कितने काम किए। हर ख्वाब देखे। और आज अपने हर सपने को अटैची के अंदर सुंदर शो-केश में सँजो-सँजोकर बेच रहा है। जरूरत पड़ने पर सिरदर्द की टेबलेट खा रहा है। और यदि बहुत कुछ कर गुजरने की हसरत हुई तो चूसने के लिए पॉपिस भी लेता है।

□

बहू लक्ष्मी क्यों होती है

जब कोई सास, ससुर या पति अपनी बहू को बेच देता है तो लोग, और खासकर समाजसेवी लोग, बड़े ही भावुक हो जाते हैं। बेहद संवेदनशील बन जाते हैं। बहू के साथ घटी किसी घटना को लेकर सस्थाजीवी प्रदर्शन और आंदोलन करने लग जाते हैं।

समझ में नहीं आता कि आखिर बहू का होगा क्या? किस काम के लिए है बहू? आड़े वक्त पर बहू काम नहीं आएगी तो कौन आएगा? बेटा तो बहू के आते ही वैसे भी ठेंगा दिखाकर हाथ से निकल जाता है। ले-देके अब बहू ही रह जाती है।

बहू लक्ष्मी-रूपा होती है। मैंने इसपर कई बार मौलिक चिंतन किया है। इधर जब से बहुएँ बेचने का सिलसिला (और धंधा) चला है तब से तो मैं काफी सोचने की पोजीशन में आ गया हूँ।

बहू जब घर आती है तो साथ में नकदी और सामान लाती है। घर संपदा से भर जाता है। वह कुछ न लाए तो भी वह साक्षात् तो उपस्थित होती ही है। बहू का शरीर भी धन और लक्ष्मी का विकल्प होता है। वह घर के सदस्यों हेतु सेविका का कार्य करती है, जिसका कोई पारिश्रमिक या उजरत नहीं लेती। वह शरीर तोड़कर काम-काज करती और घर मे एक नौकर का वेतन बचाकर पूँजी जोड़ती तथा बचत में प्रमुख भूमिका निभाती है।

बहू से मन भर जाता है तो वह जला दी जाती है। इन दिनों बहू एक ईंधन का रूप बनकर बहुत बड़ी समस्या का निदान भी कर रही है। बड़े-बड़े घरों (साधन-संपन्न) में खासतौर पर बहुएँ हीटर का सुख दे रही हैं। अत्याचार-व्यभिचार के बाद जलाकर सर्दी में राहत भी दे जाती हैं बहुएँ!

बहू एक चलता-फिरता और हाड़-मांस का जीता-जागता चैक या जमींदारी बांड जैसा सुरक्षित खजाना है, जो चाहने पर जब-तब भुना लिया जाता है। चाहे जब हजारों रुपए प्राप्त कर लिये जाते हैं।

इन्हीं तमाम उक्त विशेषताओं के कारण शायद बहू को साक्षात् लक्ष्मी माना जाता है। यदि किन्हीं को अन्य विशेषता पता चले तो मुझे जरूर बताएँ, ताकि अपने ज्ञान के साथ-साथ तमाम लोगों को भी बताकर उनका सामान्य ज्ञान बढ़ा सकूँ।

□

छात्र का पिटना, छात्र का मरना

'एक अध्यापक ने छात्र को जूते से मारा, छात्र ने आत्महत्या कर ली।' यह समाचार अखबार में देखते ही पूरी समाचार-कथा पढ़ डाली।

अगर छात्र ने अध्यापक को जूतों से मारा होता और अध्यापक ने आत्महत्या कर ली होती, तो शायद मैं हर्गिज समाचार-कथा पूरी नहीं पढ़ता, क्योंकि छात्र अध्यापक को जूते से मारे, यह कोई समाचार अब नहीं है। अध्यापक तो है ही पिटने-कुटने और चाकू खाने के लिए। अध्यापक पिटे-कुटे या मरे, इसमें कोई सस्पेंस और कौतूहल नहीं।

अब अगर भेड़िया बच्चे को उठा ले जाए या शेर किसी आदमी को खा जाए अथवा पुलिस और बाबू रिश्वत ले ले तो ये सब प्रकृति है। सामान्य और संस्कारजन्य बातें-क्रियाएँ हैं ये। ये कोई समाचार नही। इनके छपने से पाठक बिदकते-बिगड़ते हैं।

बच्चा कोई भेड़िया पकड़ लाए। आदमी शेर को चबा जाए या पुलिस बाबू रिश्वत दें तो ये हिट समाचार हैं। इनसे अखबार बिकते हैं।

तो अध्यापक ने छात्र को पीटा, जूते से पीटा। जरा अध्यापक की हिम्मत तो देखो। लड़कियों के सामने एक लड़के को जूते से पीटा। यानी कि अध्यापक अध्यापक नहीं रहा—वह कतई भूल गया कि वह और उसकी पीढ़ियाँ पीटने नही, पिटने के लिए हैं।

एक अध्यापक की ये मजाल! हद है भई! मगर अध्यापक को

सूझी क्या? बड़ा दिलेर निकला कि छात्र को पीट डाला।

लोग कहते हैं कि पागल रहा होगा अध्यापक, वरना छात्र को पीटने की हिमाकत नहीं करता। मैं भी सोचता हूँ कि वह सचमुच पागल रहा होगा, वरना खुद पिटने को लालायित रहता।

बताते हैं कि पिटनेवाला छात्र किसी लड़की से बातें कर रहा था। इसलिए अध्यापक ने उसे जूते से पीट दिया। अध्यापक को नहीं रुचा कि छात्र इक्कीसवी शताब्दी में छलाँग लगाए। छात्र को पता नही था कि हिंदुस्तान के कस्बाई शहर में लडकी से बात करना अपराध है—सो वह पिट गया।

छात्र भी पानीवाला निकला। मर गया; कट गया रेल के नीचे। लोग क्या कहते? उसके साथी छात्र क्या कहते कि आ गया बेशर्म पिटकर, वो भी जूते से। सो भी एक अध्यापक—'मास्साब' के जूते से। छात्र गैरतवाला निकला। यह सब सुनने के लिए नहीं रहा।

पर अपने पीछे वह छात्र एक प्रश्न छोड़ गया कि किसी छात्रा से बात करने पर छात्र को जूते से पीटना हमें पंद्रहवीं शताब्दी में ले जाता है या इक्कीसवीं?

☐

फाइल कहाँ चली गई

एक प्रांत के उच्च न्यायालय की अदालत से कोई फाइल कहीं चली गई। फाइल कहाँ चली गई? कैसे चली गई फाइल? 'उन्या' में बवेला मचा हुआ है। कोई बता नहीं पा रहा है।

यह खबर जब मैंने एक उच्च उम्र के परिचित को सुनाई तो वे कहने लगे कि लो भई, क्या जमाना आ गया है! अब फाइलें भी चली जाती हैं लड़के-लड़कियों की तरह। यों फाइलें तो आती-जाती ही रहती हैं। फाइलें हर मौसम में सर्वत्र जाती-आती रहती हैं। आदमी को जाने-आने की जरूरत नहीं पड़ती। फाइलों ने बड़ी राहत दी है आदमी को। फाइलें अपने दफ्तर में ही नहीं, दफ्तर से बाहर भी सरकती रहती हैं।

एक मामले में फाइलें निराकार ब्रह्म हैं—'बिनु पगु चलै सुनै बिनु काना'। फाइलें सुनती-सुनाती भी हैं। फाइलें बड़ी जानदार और शानदार होती हैं। फाइलों में आदमी, घोड़े, हाकिम छुपे दौड़ते मिलते हैं।

अब तक आदमी, औरतें और बच्चे घरों से चले जाते रहे हैं। अब फाइलों के चले जाने और उनके पता लगाने का माध्यम दूरदर्शन और रेडियो ही होना चाहिए। दूरदर्शन से खबर देनी चाहिए। यही इक्कीसवीं शताब्दी का तकाजा है।

सुना है कि अदालत में पूछताछ जारी है। फाइल को 'सरकार' ने

माँगा है। वह कहाँ है, इसकी जाँच हो रही है।

भई, सब जानते हैं कि फाइल कहाँ होनी चाहिए? कहाँ हो सकती है? होगी तो बाबू के पास होगी। फाइल बाबू के बिना और कहीं रह नहीं सकती। बाबू या पेशकार के सिवा फाइल कहाँ रह सकती है? बहुत हुआ तो फाइल मुवक्किल, मुंशी या वकील के पास चली जाती है। लेकिन बाबू तब सामने और साथ ही रहता है। इसके सिवा इन अदालती फाइलों बेचारियो का ठिकाना कहाँ है? इन फाइलों को और कहीं जाना अच्छा नहीं लगता।

जब मुवक्किल किसी बाबू के पास जाकर फाइल देखता है तो दो रुपए मुँह दिखाई के लगते हैं। जब कोई मुंशी उसे बस्ते पर ले जाता है तो पाँच से पचास रुपए तक नजराने के लगते हैं। खुले रेट और रास्ते हैं। ये सब जानते हैं।

फाइल कहाँ और कैसे जाती है, जब सबको पता है तो उच्च न्यायालय या 'उन्या' को क्यों नहीं पता? इसका भई, मुझे क्या पता?

□

मच्छर संस्कृति



रात की शीत और दिन के ताप में इन दिनों मच्छरों की बन आई है। वैसे चाँदी तो इनकी हर मौसम में रहती है। ये यूनियन बनाकर शाम होते ही आदमखोरी के लिए निकलते हैं और बेखौफ होकर आदमी का खून पीने लगते हैं।

मच्छरों के आतंक से भी आक्रांत है आदमी। आदमी मच्छरों का कुछ भी नहीं बिगाड़ पा रहा है। मच्छर दनादन आदमी का खून पी रहे हैं। आतंकवादी कम-से-कम खून तो नहीं पीते। एकदम हलाक कर देते हैं गोली मारकर।

मच्छर तो जिला-जिलाकर मार रहा है आदमी को। मेरी समझ में नहीं आता कि जब आदमी एक मच्छर तक नहीं मार पा रहा तो बडे-बड़े निशाचरों का सामना करने की डींग क्यों मारता है?

मच्छर जानते हैं कि आदमी उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। आदमी एकजुट होकर, एकमत होकर नहीं रह सकता। आदमी का सामूहिक बोध नष्ट हो गया है।

अगर आदमी में सामूहिक चेतना होती तो मच्छरों की समस्या तो क्या, बड़े-बड़े आतंकवादी मच्छर, जो कश्मीर और पंजाब में भनभनाते घूम रहे हैं, उनका सफाया हो चुका होता।

इधर मच्छरों को पता है कि वे रहेंगे, भले ही मलेरिया न रहे।

मच्छर अमर हैं। जब वे रहेंगे तो खून पिएँगे ही। ठीक है भैया, रहो और खूब पियो। जैसे सभी आदमी के खून के प्यासे हैं, तुम लोग भी खूब पिओ।

लेकिन पिओ तुम खून उनका जो खून की प्रचुरता से दिल का रोग लगा बैठे हैं। हार्ट के मरीज हैं। इन बड़े-बड़े लोगों का खून पिओ, ताकि तुम्हें खून पीने का वास्तव में मजा आए और उन्हें रोगों से निजात मिले। खून कम हो बड़े लोगों का और उनका ब्लड-प्रेशर ठीक हो जाए।

मैं देखा करता हूँ कि मच्छर भाई मच्छरनुमा हडियल आदमी का खून पीने में लगे हैं। समाज में जो मगरमच्छनुमा लोग हैं, मच्छर उनसे दूर हैं। ये लोग कछुआ अगरबत्ती, गुडनाइट से अपनी नाइटें गुड बनाए हुए हैं। मच्छर यहाँ फटकते भी नहीं।

बस जो गलीज और गरीब लोग गलियों में मच्छरों की भाँति पडे हैं, मच्छर उन्हें ही परेशान करने में लगे हैं। ये मच्छरनुमा लोग ही मच्छरो से पीड़ित हैं।

ये मच्छर मच्छर हुए जा रहे आदमी का खून पी रहे हैं। अगर मच्छरों के दिमाग और संवेदनाएँ होंगी तो मेरे इस लिखे को पढ़कर वे मच्छरनुमा आदमी का खून नहीं पिएँगे। मच्छरों को मेरी सलाह है कि वे मगरमच्छनुमा लोगों का खून पिएँ। उनके खून में सेब और संतरों, मक्खन-टोस्टों की खुशबू और स्वाद मिलेंगे।

आखिरकार इन गरीबों के खून में क्या धरा है? इन लोगों में खून ही कहाँ होता है, हड्डियाँ होती हैं। हड्डियाँ चूसना मच्छर की संस्कृति और संस्कारों में नहीं। यह तो राक्षसों और कुत्तों की संस्कृति में है। मच्छरों को अपनी संस्कृति पर विचार करना चाहिए, अपने संस्कारो का विकास करना चाहिए।

आदमी को देखो, जिस-तिस को खा लेगा—मास-मछली, गेहूँ-दाना, फल यानी भक्ष्य-अभक्ष्य सभी को चट कर जाता है। दूध, पानी, शराब सारी चीजें कंठ में उतार लेगा। अत: आदमी की तरह मच्छर भाई,

तुम तो न गिरो।

सो हे मच्छरानंद! अपनी संस्कृति को पहचानो। अपने संस्कारों को याद करो। फिर कर्मक्षेत्र में कूद पड़ो—रहोगे तो खालिस खून पिओगे, मरोगे तो मोक्ष को प्राप्त होओगे।

□

गणतंत्र में जीते कितने स्वतंत्र हम



हम अब स्वतंत्र हैं गणतंत्र में जीने के लिए। स्वतंत्र कैसे है? स्वतत्रता क्या है? स्वतंत्रता का अर्थ क्या है? इन सब बातों और प्रश्नो से स्वतंत्र हैं। ये सब हमारी बला से। बस स्वतंत्र हैं और साथ गणतत्र का, इतना ही बहुत है। हम कुलाँटें खा रहे हैं, स्वतंत्रता के मजे ले रहे हैं।

वैसे स्वतत्रता का अर्थ है—'कोई मूल्य प्राप्त होना'। तो मूल्य हमें मिल रहे हैं, प्राप्त हो रहे हैं। मूल्य प्राप्त करना ही हमारा मूल लक्ष्य है। सच तो यह है कि हम मूल्य को मूल्य (मूल) से अधिक प्राप्त कर रहे हैं। हमारे मुहल्ले का लाला सूजी और चावल 'मूल के मूल' में दे देता है ग्राहकों को। बाद को कहता है हमसे—गुड़ सूँडी (कीडे) पड़ रही थी, बस मूल्य प्राप्त हो गया, थोडा-बहुत मुनाफा भी। हमें भी लगा कि लाला ने स्वतंत्रता का अर्थ सही समझा है—'मूल्य प्राप्त होना और करना'।

कहते हैं कि स्वतंत्रता का अर्थ 'अभाव की अनुपस्थिति' होता है। अभाव तो अब है ही नहीं कहीं। जब से स्वतंत्रता पाकर भारत में गणतंत्र बुलाया है, हर बात के भाव हो गए हैं। भाव ही भाव, यहाँ तक कि बेभाव। भावों में भाव चढ़े हैं। नेता, मिनिस्टर, अफसर तक के भाव बढे हैं। अभाव कतई अनुपस्थित है। मुहल्ले में जो इकलौते कविजी हैं, वे भी सदैव 'भावों' में डूबे रहते हैं।

टाइम हॉब्स ने स्वतंत्रता की परिभाषा करते हुए लिखा—'विरोध का अभाव ही स्वतंत्रता है।' हमने इसको शत-प्रतिशत पाया। चुनाव कहीं और किसी स्थान का हो, हमें विरोध की भनक तक नहीं हुई। विरोधी प्रवृत्तियाँ हमने पनपने ही नहीं दीं। अपहरण करवा दिए। गुंडो और तमंचों का प्रभाव ऐसा रहा कि 'विरोध का ही अभाव' कायम कर स्वतंत्रता की परिभाषा की लाज रखी।

स्वतंत्रतापूर्वक हमने स्वतंत्र भारत की प्रगति एवं समृद्धि हेतु नए-नए विचार स्थापित किए। पुराने आदर्शों और रूढ़ियों को नए जामे पहनाकर सृजनात्मकता का परिचय दिया। राजनीतिक स्तर पर दल बदलकर विकसित किया और खुला दिमाग रखने की पुष्टि की। गांधीजी को एक ओर मेले और धुरे में गाड़े रहे। असहयोग तथा आंदोलन को 'बाजी' बनाकर (असहयोगबाजी-आंदोलनबाजी) अपने निजी स्वार्थ और निजी लाभ की लालसा में अडे हैं। रिश्वत-भ्रष्टाचार का कीर्तन करते रहे—'काम हराम है, आराम हमारा काम है, की धुन पर दफ्तरों मे मटकते रहे।

खेलकूद, क्रिकेट कमेंट्रियाँ सुन-सुनकर हमने प्रगति और विकास के नए आयाम दिए, कीर्तिमान कायम किए। हड़ताल की खड़ताल में अनेक अपराधी प्रवृत्तियाँ पाले रहे हैं। हम स्वतंत्र इस प्रकार बने रहे।

एक रूप हो तो दिखाया-बताया जाय, आज हर प्रकार से, हर रूप में स्वतंत्र-ही-स्वतंत्र हैं। चरबी खाने और खिलाने को स्वतंत्र है, बाजरा (बीमारीवाला) खाने को स्वतंत्र हैं। हर मिलावटी सामान खरीदने-बेचने के लिए आजाद हैं हम।

भाषण, पत्रकारिता द्वारा व्यक्तिगत कीचड़ उछालने और चरित्र-हनन करने की पूरी स्वतंत्रता है। हिंसात्मक-गुंडई तरीकों से कुरसी और सत्ता हथियाने की स्वतंत्रता है।

छोटी-मोटी किल्लतों, क्षणिक परेशानियों को झेलने का सामर्थ्य और धैर्य इस स्वतंत्रता को पाकर न जाने कहाँ गिर गया है इस गणतत्र में। यह एक हादसा हो गया है। एक पल के लिए कठिन समय को

पाकर विध्वसात्मक रूप धारण करने मात्र की स्वतत्रता—कितनी हृदय-विदारक एवं शोचनीय है! यह सोचनेवाले सोचें। भला हम सोच में क्यों पड़ें? गणतत्र देश में हम सोचने के लिए स्वतंत्र भले ही हों, पर क्यों सोचें? क्यों?



हस्ताक्षर का गुम जाना

एक बार मानव काया से उसकी छाया गुम जाए, आत्मा गुम जाए, मगर उसका हस्ताक्षर न गुमे। किसी का हस्ताक्षर गुम जाए तो समझो, सबकुछ गुम। हस्ताक्षर ही आदमी की पहचान है। आदमी की हर बात धोखा कर सकती है, परंतु हस्ताक्षर नहीं। जो हस्ताक्षर नहीं बना पाते, उनका अँगूठा सलामत रहे।

जब से मेरा हस्ताक्षर खोया है, मुझे भारी चिंता है। अपनी नहीं, उन लोगों की फिकर है, जिनके पास हस्ताक्षर नहीं, अँगूठे हैं। अगर एक पढ़े-लिखे का हस्ताक्षर गुम हो सकता है तो फिर अनपढ़ बेचारों के अँगूठे भी आसानी से उड़ सकते हैं। इस बात के संकेत और प्रमाण इतिहास तथा धर्म ग्रंथों में हैं। वो 'अंगुलिमाल' डाकू क्या करता था— लोगों की अँगुलियाँ उड़ाकर उनकी माला पहनता था। द्रोणाचार्य ने एकलव्य बेचारे का अँगूठा किस आदर्श और प्रेम से उसी के द्वारा कटवाकर ले लिया, कौन नहीं जानता।

मेरा हस्ताक्षर प्रेस में रहता था। तमाम और ब्लॉकों का भी प्रेस में बसेरा रहता है। मेरा हस्ताक्षर ब्लॉक मगर सबसे अलग एक गेली में पडा रहता था। उसे मेरे कॉलम (जिसे मैं लिखता था) में रोज सजना होता था। अचानक एक दिन वह गुम गया। वह तो गनीमत यह कहिए कि मै नहीं गुमा, मैं भी घटों प्रेस में पड़ा रहता हूँ।

वेसे प्रेस मे इन दिनो बहुत सी चीजे गुम हो रही है। चीजो को छोड़ भी दो तो चलते-फिरते साढ़े पाँच और छह फिटे कंपोजीटर, मशीनमैन गुम हो रहे हैं। जिस प्रेसवाले से मिलो वही घोड़े-सा मुँह बनाकर कहता है—कपोजीटर नहीं है, पता नहीं कहाँ चला जाता है मशीनमैन; सब साले कहीं जाकर जाने कहाँ गुम गए?

गुम होने को कभी-कभी समाचार और संपादक भी गुम हो जाते हैं तो एक हस्ताक्षर की कौन कहे!

लेकिन भैया, अगर आदमी का हस्ताक्षर गुम जाए तो वह बैंक, डाकखाने, कोर्ट, कचहरी और लिखत-पढ़त के सारे महकमों से फरार या फौत मान लिया जाता है। कोई लाख कहता रहे कि वह फलाना है, ढिकाना है। लेकिन अगर हस्ताक्षर या अँगूठा नहीं तो वह होकर भी नहीं है।

इधर हस्ताक्षर गुम करके कोई मेरा हस्ताक्षर मिलाकर कालचक्र का लेखक बन सकेगा। इन दिनो लोग और बडे-बड़े लोग हस्ताक्षर ही नहीं, पूरी-की-पूरी कहानी (और कहानी पर बने रेखाचित्र) को भी उडा लेते हैं। मेरी जो कहानी 'दैनिक जागरण' में छपी थी, जैसी-की-तैसी दिल्ली और लाहौर के एक अखबार 'वंदे मातरम्' ने अपने ८ मई के अंक में चोरी से छाप ली। इसने न तो मुझे बताया और न ही 'जागरण' को।

मैं सोच रहा हूँ कि कहीं मेरा ब्लॉक हस्ताक्षर कला दिल्ली तो नहीं चला गया? वास्तव में एक मेरे हस्ताक्षर के गुम जाने से मुझे पता चला है कि समाज और देश में जाने क्या-क्या गुम रहा है? मेरे हस्ताक्षर के खोने की बात को लेकर प्रेस में बैठे एक सज्जन कहने लगे कि 'इस छोटी सी बात को यदि भुला दिया जाय और राष्ट्रीय स्तर पर विचार किया जाय तो ईमानदारी, शांति, सुरक्षा, नैतिकता, सांप्रदायिक सद्‌भाव, प्रेम यानी कि कुछ है ही नहीं सामने। सब जाने कहाँ गुम हैं। इनकी किसी को जब चिंता नही तोऽऽऽ।

वे महोदय कहते-कहते रुके, फिर उठकर चलते हुए बोले,

'हस्ताक्षर ही गुम हुआ है, कोई बात नहीं। हद-से-हद पंद्रह रुपए की बात है, सो प्रेस-मालिक दुबारा बनवा देगा।'

लो भई, यह भी ठीक कहा उन महोदय ने। प्रेस-मालिक और संचालक जब दूसरा कंपोज, कंपोजीटर और संपादक ला सकते है तो एक हस्ताक्षर की क्या बात है? जाने इन मालिकों और पुनर्व्यवस्थापकों को लोग इतना झेलू क्यों मानते हैं? प्रेस और जनता की तमाम गलत-सही बातें इनसे झेलने की उम्मीद करते हैं।

मैंने अपने हस्ताक्षर की काफी पूछताछ की है। सभी कहते हैं कि उसका कोई करेगा क्या? वह किसी काम का नहीं। फिर एक लेखक का हस्ताक्षर तो एकदम अर्थहीन। जब लेखक ही अर्थहीन हो तो उसके हस्ताक्षर का क्या मोल? इससे तो गजक, पट्टी और रेवड़ी भी नही मिल सकती है।

फिर चला कहाँ गया हस्ताक्षर का बच्चा? कौन ले गया? क्यों ले गया? जब वह किसी काम का नहीं तो कहाँ गया? अब न हो किसी काम का, इससे क्या? दूरदर्शन पर दिखाते, बताते है कि साठ-साठ और अस्सी-अस्सी वर्ष के बच्चे गुम हो गए हैं। अब इन साठिया-पाठिया बच्चों का कोई क्या करेगा? मगर वे भी गुम हैं। टेरर है एक। आतंक तो है एक समाज में ख्वाहमख्वाह का कि साठिया-पाठिया बच्चे भी गुम हैं।

हो न हो, मुझे और प्रेस को आतंक में लाने की गरज से गुम किया गया हो हस्ताक्षर वाला ब्लॉक। जब आतंक और अव्यवस्था ही फैलानी है तो कुछ भी गुम कर दो या मार दो या जला दो। और हो भी रहा है यही सब। कोई कुछ नही कर पा रहा है—न आदमी, न व्यवस्था और न सरकार।

हाँ, यह व्यवस्था और सरकार एक मुआवजा जरूर बाँट रही है क्षतिग्रस्त लोगों को। तो भई, मैं भी क्षतिग्रस्त हूँ। मुझे भी मुआवजा मिले।

□

उनका तबादला



उनका तबादला हो गया है। वे जा रहे हैं। दरअसल उन्हें जाना पड रहा है। यों वह जाना नहीं चाहते थे। क्यों जाते भला? यहाँ इस शहर से कितना प्रेम हो गया था!

वे जब यहाँ आए थे तो आड़े हाथों लिये गए। उन्हें आते-आते ही भ्रष्टाचार समिति का अध्यक्ष बनना पड़ा था। अध्यक्ष होने के नाते उन्हें सादर साग्रह भ्रष्ट तरीकों और लोगों को अपनाना पड़ा। जहाँ कही कभी भ्रष्टाचार की गूँज होती, वे तुरंत पहुँचकर भ्रष्टाचार को शांत कर देते; भ्रष्टाचारी को अपने सामने प्रस्तुत कर उसका हल निकालते; उसकी व्यथा अपने सिर ले लेते और स्वयं भ्रष्ट हो जाते। आखिर एक महान् भ्रष्टाध्यक्ष का कर्तव्य क्या होता है? यही न कि सारा भ्रष्टाचार अपने तहद रखे और उसकी देखभाल करे!

उन्होंने एक स्कूल के भ्रष्ट अध्यक्ष को पकड़ लिया। तब वे आए-आए ही थे। वे नगर के एक आई.ए.एस. रैंक के अधिकारी थे। वह अध्यक्ष उनके आगे भय के मारे काँप उठा, गिड़गिड़ाया। उन्होंने उसे चेतावनी देकर क्षमा कर दिया। असल में उनका कोमल हृदय पसीज गया। फिर कभी स्कूल में कोई भ्रष्टाचार न हो, इसलिए उन्होंने अपनी पुत्री को उसमें अध्यापिका बनवा दिया। एक शिक्षक समाज-सुधारक होता है। यों वे एक उच्च अफसर हैं। पैसे की उन्हें क्या कमी! इशारा

करते ही पैसा कुदकता हुआ आता हे उनके पास। लेकिन उन्हे पैसा नही चाहिए, वरन् समाज को स्वस्थ दिशा देनी थी। अत उन्होंने अपनी पुत्री को ही जुटा दिया। स्कूल में लगा दिया।

हालाँकि वे चाहते तो उस स्कूल में किसी गरीब और परेशान तथा योग्य अध्यापिका को अपनी पुत्री के विकल्प मे लगवा सकते या लग जाने दे सकते थे, परंतु भ्रष्टाचार यही छोटे और गरीब तबके तथा निचले स्तर के लोग करते हैं। वे भी यही मानते हैं कि पानी ऊपर से नीचे की ओर नहीं, नीचे से ऊपर की ओर बहता है। ये भ्रष्टाचार की धारा नीचे से न बहे, इसलिए उन्होंने अपनी पुत्री को समर्पित कर अपनी महानता का परिचय दिया।

सच कहूँ—वे आए तो युवा चेहरों पर लालिमा छा गई। युवाओं पर लाठीचार्ज करवा दिया। यह एक ठोस क्रातिकारी कदम भी उन्होने उठाया। युवाओं के ठोस सिर तोडकर रख दिए। वे क्रांतिकारी सिद्ध हुए।

असल में एक क्रांतिकारी ही क्या, वे तो हरफनमौला सिद्ध हुए। नारी–संघर्ष समिति में उनकी पैठ रही। रिश्वत–विरोधी आंदोलन में उन्हीं का नाम रहा और उन्हीं तक चला। आदि और अंत में उन्हीं का काम रहा। वे महान् हैं। पर वे महान् होकर (भी) जा रहे हैं। वे ही क्या, बड़े–बड़े महान् और सिकंदर चले गए। सिकंदर गया तो कहते हैं, उसके दोनों हाथ खाली थे। मुझे वे सिकंदर से भी महान् लगते हैं। जाते समय उनके दोनों हाथ भरे होंगे।

सुना है कि उनके जाने के पीछे कुछ लोगों के हाथ है, जिसके कारण वे जा रहे हैं। उनका तो जाने का मन नहीं था। ये लोग कौन है, जो उनके जाने का कारण बने?

जो उनके तबादले के कारण बने वे लोग कहीं सी.आई.ए. के तो नहीं? अगर हों भी तो उन्हें क्या? उन्हें तो अपने धंधे से काम। तबादले का मतलब यह तो नहीं कि उनपर लगाए आरोप सही थे या गलत थे या फिर से यह भी निश्चित नहीं होता कि वे वह 'धंधा' नहीं करेंगे, जिस कारण उनका तबादला किया गया है। सच तो यह है कि नए स्थान पर

उनका स्थानांतरण उन जैसे तमाम लोगों के लिए पुरस्कार ही होता है। नए स्थान पर नए लोगों को चरकना और चूसना कितना सुखद और रोमाचक है उनके लिए। नई संस्थाओं, कमेटियों में घुसने और पैठने का एक दूसरा ही नया आनंद।

वास्तव में तबादला उनकी प्रगति का परवाना है, उनके सुखद स्वप्नों का हंस है। ट्रांसफर उनकी प्रोग्रेस रिपोर्ट है।

वे विदा हो रहे हैं। विदा होते-होते भी हजारों की दावतें मसक रहे हैं, बेहतरीन जलसे भोग रहे हैं। वे खुश हैं। वे विदाई भाषण देते हुए कहते हैं—विदा ही तो हो रहे हैं, न कि अलविदा। यह शहर-नगर फलता-फूलता रहे, हम फिर आएँगे। कहते हुए वे मगन हैं।

वे अब जहाँ भी जाएँगे वहाँ प्रीतिभोज पाएँगे, उपकार पाएँगे। नए-नए लोग ऑबलाइज करेंगे। ये नए-नए लोग हर जगह वही पुराने जैसे और 'उन जैसे' लोग ही होते हैं। उन्हें 'इनका' इतजार रहता है। वे सोचते हैं कि कब कोई उन जैसा अफसर तबादला होकर आए। तो वे अब वास्तव मे जा रहे हैं।

□

सियारों का संकट



देश की अन्य समस्याओं में आजकल सियारों की समस्या भी जुड गई है कि सियारों के दुर्दिन आ गए हैं। वे निरंतर कम होते जा रहे हैं।

यह तो खुशी की बात है कि देश से सियारों की नस्ल समाप्तप्राय है। हमें सियार चाहिए भी नहीं, शेर चाहिए। देश को भी शेर चाहिए। सौ सियारों के स्थान पर एक शेर शानदार।

पर मुझे लगता है कि आजकल जिधर देखो उधर 'हुआँ-हुआँ' हो रही है। यद्यपि अभी हुआ कुछ नहीं है। पर सियारों की जैसे प्रवृत्ति है कि वे होने के पूर्व ही हुआँ-हुआँ करके शोर मचाने लगते हैं। यानी कि पूरे वातावरण को गफलत में डाल देते हैं।

नेताओ में अधिकांश नेता सियार के समकक्ष और वैसी ही प्रवृत्ति के होते हैं। नेता भी चुनाव आते ही हुआँ-हुआँ करते हैं। कभी अपने को और अपने-अपने लिए हुआँ करते हैं तो कभी पराए के लिए सशंकित होकर हुआँ-हुआँ चिल्लाते हैं।

चुनाव के बाद भी जनता से किसी भी काम के लिए हुआँ-हुआँ ही करते पाँच साल बिता देते हैं। ऐसे में हुआँ-हुआँ और न हुआ तो न हुआ।

अच्छा हो, देश के ऐसे सियार नेताओं की नस्ल तो समाप्त हो।

उनका वंश लोप हो।

पर भई, मै तो उन सियारों की बातें कर रहा था, जो जानवर होते हैं। उदयपुर की अरावली घाटियों में सर्वाधिक पाए जानेवाले सियारों पर संकट छाया है। वे गायब हो रहे हैं।

यह भी कितना अजीब है। अरावली की घाटियों मे राणा प्रताप जैसे शेर पाए जाते थे। वे समाप्त हुए तो उनकी चिंता ऐसी कभी नहीं हुई। यह ठीक भी है, तभी तो उनके समाप्त होते ही अरावली में सियार हो रहे थे। अब वे भी लोप हो रहे हैं।

सोचो, अगर सियार समाप्त हो गए तो हम आगे आनेवाली नई पीढ़ी को कैसे बता-समझा पाएँगे कि नेता और रहनुमा कैसे सियारनुमा होते थे। नेता-चरित्र को समझने के लिए सियारों का बचे रहना जरूरी है।

इसीलिए सियारों पर छाए संकट की चिंता सचमुच मुझे भी है। सियारों के दुर्दिनों पर सियासत की सेहत हेतु विचार करना चाहिए। मैं कर रहा हूँ।

□

काश, मेरा भी अपहरण हो जाए



रूबिया की रिहाई से देश भर में राहत आई। लोगों की नींद उड़ा ली थी रूबिया ने। पता नहीं रूबिया के साथ क्या हो रहा होगा! आखिर आतंकवादियों का क्या भरोसा? वे कुछ भी कर सकते थे। लेकिन रूबिया सकुशल वापस आ गई और आतकवादी, जो सरकार ने पकड रखे थे, वे भी सकुशल छूटकर आ गए।

अब दोनों स्वतंत्र हैं। रूबिया कुछ भी करे, इससे देश के लोगों की सेहत पर कुछ खास असर नहीं पड़ेगा; जैसे आतंकवादी छूटकर कहीं भी कितनो को मार डालें, सरकार की सेहत पर कोई असर नहीं पड़ेगा।

सच मानिए, अधिकांश लोग प्रसन्न हैं; क्योंकि रूबिया सकुशल आ गई और आतंकवादी भी।

इधर रूबिया भी प्रसन्न होगी। अपहरण हुआ सो हुआ, पब्लिसिटी कितनी धाँसू मिल गई। सारी जिंदगी एड़ियाँ रगड़ लेती डॉक्टरी में, ऐसी पॉपुलरिटी नहीं मिलती। बड़ी-बड़ी हस्तियों, कलाकारों, साहित्यकारों, अभिनेताओं की 'लीड' नहीं बन पाती अखबारों में, जो उसने अपहृत होकर बनवा ली। अखबार और सारे का सारा मीडिया उसके लिए परेशान हो गए। सुर्खियों में आ गई रूबिया चंद ही घंटों में।

इस पब्लिसिटी से रूबिया अंतरराष्ट्रीय हस्ती बन गई। उसकी डॉक्टरी भी खूब चलेगी।

कई लोग, जिनमे लडकियाँ विशेष शामिल है, मनौतियाँ मनाने लगे हे कि उनके भी अपहरण हो जाएँ। काश, कोई आतकवादी उन्हें भी उठा ले जाए। जैसे रूबिया को सकुशल छोड दिया तमाम पब्लिसिटी देकर वैसे इन्हें भी छोड दे।

परतु मैं सोचता हूँ कि क्या अपहरण होने पर पुलिस इनकी रिपोट लिखेगी? वह साक्षी माँगेगी। कहेगी कि किसने देखा, तुम्हारा अपहरण हुआ? क्या सबूत है कि अपहरण वास्तव मे हुआ है? एक दफा मेरे एक साहित्यकार-पत्रकार मित्र का अपहरण हो गया था तो पुलिस ने ऐसा ही कुछ कहा था। सरकारी मशीनरी ने कोई रुचि नहीं ली तो बदमाशो ने स्वय खीझकर पत्रकार मित्र को एक कीचड़ भरे गड्ढे में पटक दिया था। उनकी गुरिया-गुरिया ढीली हो गई थी, तब भी उन्हें कोई पब्लिसिटी नहीं मिली। लोग यह और कहने लगे थे कि साला नाटक कर रहा है। जरूर किसी से कुछ ऐंठने की सोच रहा होगा। भला पत्रकार, और फिर फटीचर पत्रकार, का कौन अपहरण करेगा? खैर।

लेकिन इधर वी पी सिंह, जो नए प्रधानमंत्री बने हैं, उन्होंने अपहृत होनेवाले लोगों के दिलों में आशाओं के दीप जलाए हैं। उनसे सभी को उम्मीद जगी है कि अब चाहे किसी मंत्री के पुत्र या पुत्री अथवा रिश्तेदार का अपहरण हो, चाहे किसी रिक्शेवाले या फटीचर पत्रकार तथा उसके किसी प्रियजन का, उसे सकुशल बचा लिया जाएगा और आतंकवादियो या डाकुओं और बदमाशों को रिहा कर दिया जाएगा।

दरअसल, इससे एक इमेज बनती है। टेंपो बनेगा प्रधानमंत्री और नई सरकार का। तो लोग जो हसरत करने लगे हैं कि काश, मेरा भी अपहरण हो जाए, वह ठीक ही है। अगर नई सरकार को पॉपुलरिटी और स्वयं को पब्लिसिटी देनी-दिलानी है तो वे जरूर अपहृत हों। वरना उनका और देश का भविष्य चौपट हुआ समझो।

☐

आलू बहुत काम आया है

सोचो, यदि आलू न होता तो इस महँगाई और कठिनाई के युग में आदमी का हाल क्या होता? भिंडी, करेला, टमाटर आदि जब दस रुपए किलो के आस-पास घूमते हैं तो एक आलू ही होता है, जो आदमी का साथ निभाने के लिए उसके पास होता है।

सच मानिए! आलू ने आड़े वक्त में आदमी से बहुत निभाई और निभा रहा है। हर मुसीबत मे आलू बहुत काम आया है।

कहते हैं कि सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्पेनी आक्रमणकारी जब दक्षिणी अमेरिका के विशाल इंका साम्राज्य को नष्ट करके जंगलों में भटक गए, जहाँ वे भूखों तड़पने लगे, तभी आलू ने वहाँ प्रकट होकर अपनी सेवाएँ प्रस्तुत कर भूखे स्पेनियों को जीवनदान दिया।

वहीं से आलू फिर सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैंड होता हुआ फ्रास के राजा के पास पहुँचा। राजा को आलू इतना भाया कि उसने 'आलू बोओ अभियान' चला दिया—'आलू बोओ, वरना कान कटाओ।'

अगर आलू ने आदमी की जान बचाई तो आलू के सम्मान में राजा ने उक्त फरमान जारी कराया, अतः मैं समझता हूँ कि इसमें कुछ अनुचित नहीं। एक फ्रांसीसी कैदी ने तो अपनी पूरी बंजर जमीन में आलू महाराज की स्थापना कर दी। आलूजी खूब फले-फूले। आलू के फूल राजा ने अपने कोट में लगाए और रानी के गजरे में गुँथवाए।

आलू की प्रतिष्ठा सड़क के आम आदमी से लेकर राजा तक परवान चढी। आलू ने अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। सच मानिए, आलू सब्जियों में विश्व चैंपियन है।

भारत में आलू आमजनों के लिए अमृत है। भले ही भारत में आलू का आगमन पुर्तगालियों के आक्रमण के बाद सत्रहवीं शताब्दी मे हुआ हो, लेकिन जनाब! आलू को तरह-तरह और हर प्रकार से अपनाकर भारत के आदमी ने ही आलू के मान-सम्मान को सँवारा।

हर प्रकार की सब्जी मे आलू की पैठ है—गोभी-आलू, करमकल्ला-आलू, टमाटर-आलू, प्याज-आलू। यानी कि आलू जिसमें डालो उसी में रंग जमाए। आलू को भून डालो तो उसे एतराज नही। उबालकर खाओ, चाहे तलकर चबाओ। भुरता बनाओ या अचार डालो—यह हर रंग में रँगने के लिए तैयार है।

आदमी की जितनी वैराइटियाँ हैं तो आलू भी अपनी-अपनी कई जाति-प्रजातियों में—लाल आलू, सफेद आलू, देशी, पहाडी, कुफरी, कुफरी सिंदूरी, कुफरी लवकार, चमत्कार, स्कॉट यानी कि तमाम रंगो और ढगों में आलू।

अगर आलू ने इस प्रकार से आदमी की जान और समाज मे इज्जत की रक्षा की तो आदमी ने भी जी-जान लगाकर आलू तथा उसके वंश की रक्षा की है। आदमी ने आलू को बड़े-बड़े वातानुकूलित गृहो मे रखकर लपट-लू से बचाया है। ब्लैक में और रिश्वत तथा सिफारिशो से आलू को रखा है कोल्ड-स्टोरेज में आदमी ने।

इससे क्या कि आलू सड़क पर मारा-मारा फिरता है और सड़ता है। तो भैया, यह तो व्यवस्था की बात है। आप बताएँ कि क्या आदमी फुटपाथों पर नहीं पड़े रहते हैं? कभी-कभी आदमी सड़क पर जनमता और वहीं सड़क पर सड़ जाता है—मर जाता है। अगर आलू या आदमी सड़क पर सड़ता है तो इसमें आलू क्या करे और आदमी क्या? वरना आलू तो टिक्की बनने को राजी, आलू पराँठों में चुने जाने को तैयार। अब व्यवस्था ही न हो तो आलू क्या करे?

निंदा और आलोचना तो प्रधानमत्री की भी हो जाती है। लोग भगवान् को नही छोड़ते। फिर आलू बेचारे की औकात क्या? आलू के बारे में भी कहते हैं तो कहते रहें। वैसे आलू खाने से न तपेदिक होता है, न कोढ़। न बच्चों को सूखा रोग होता है और न आलू से मोटापा बढता है। इसके विपरीत आलू से आदमी को प्रोटीन, वसा और प्रमुख तत्त्व कार्बोहाइड्रेट्स मिलते है। इसमे लोहा, विटामिन बी, बी२ तथा सी जैसे पोषक तत्त्व शामिल है।

आलू सब्जी-सम्राट् है। आलू आदमी खाए तो सतर हो जाए। 'आलू' यानी 'आल गुणवाला'। इसे खाने से आदमी बहादुर बनता है। आदमी को, खासतौर पर आम आदमी को, आलू की तासीर पता है। तभी तो आलू नित्य खानेवाले आम आदमी से खास आदमी डरता है।

आज दुनिया भर में आलू का साम्राज्य है। आलू ने अतरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी गरिमा में चार चाँद लगा लिये हैं। आलू की विशेपताएँ देखकर बड़े-बडे फाइवस्टार होटलों तक आलू को ले गए है। बजर भूमि और सडक से उठकर—बरफी, हलवा, बिस्कुट के रूप में बदलकर आलू तो गुदड़ी का लाल हो गया है।

विश्व के कुछ कबीलों (आदिवासियों) में यह देवता बन चुका है तो आश्चर्य क्या? आदमी को जीवनदान देनेवाला ही देवता है. आलू देवता को नमन करते हैं लोग तो आलू है भी इस योग्य।

आलू एक पैमाना है पहचान का। गाँवों में लड़की को आलू छीलते देखकर लड़की के स्वभाव एवं योग्यता की पहचान होती है। अगर लडकी आलू का छिलका चाकू या हँसिया से मोटा और गूदेदार निकालती-उतारती है तो लड़की फिजूलखर्ची होती है। लड़की यदि छिलका तो पतला ही उतारे, मगर आलू की आँख या गड्ढा छीले बिना ही छोड़े तो वह आलसी और लापरवाह समझी जाती है। आलू पकाते हुए यदि आलू कच्चे रह जाएँ तो माना यह जाता है कि लडकी ध्यान मे कच्ची है।

इसलिए लड़की को चाहिए कि आलू छीले और बढ़िया छीले।

बढ़िया पकाए, अन्यथा शादी में परेशानी होगी। आलू छीलना एक कसौटी है। कई जातियों में पुरुष घरो के काम-काज करते है। पुरुष तो होटल भी चलाते हैं तो उन्हें चाहिए कि आलू अवश्य छीलें। घुइयाँ छीलना हर मौसम में तो सुलभ नहीं। आलू ही है, जो छीला जा सकता है—हर स्थिति और काल में।

आलू ने आदमी के आगे अपना भोज्य रूप ही नही, देव रूप भी रखा है। आलू एक खिलौना भी है, यह वही लोग जानते हैं जो गरीब और गरीबी रेखा से नीचे हैं।

गरीबों के बच्चे इसे गेंद की तरह लुढ़काकर खेल खेल लेते हैं। खेलते-खेलते जब थक जाते हैं तो फिर गेंदनुमा आलू को भूनकर खा लेते है।

बच्चे आलू को पीसकर लुगदी बनाते है—पतंग के माँजे के लिए। होली पर आलू काटकर उसपर उलटा अक्षर या शब्द अंकित कर ठप्पे ठापते हैं साथियों की कमीजों पर। आलू एक सस्ता खेल और खेल का साधन भी है।

यही कुछ बातें हैं जिनसे आलू आज विश्व की चोटी पर चढ़ा बैठा है। सच मानिए, आलू एक पुरस्कार भी हो चुका है। जर्मनी में हर साल 'गोल्डेन पोटैटो' नामक एक पुरस्कार दिया जाता है। इसकी शुरुआत डॉ. ब्राइलेंस्लइन ने कुछ पूर्व की है। उन्होंने 'आलू सिद्धांत' लिखकर आलू की महत्ता को मंडित कर दिया है। इस सिद्धांत में उन्होंने कहा है—'आलू जब आ ही गए हैं तो उन्हें खाया ही जाएगा।'

इस सिद्धांत के प्रतिपादन के पश्चात् डॉक्टर साहब को यह सूझा कि प्रति वर्ष सोने का एक आलू ऐसे विनोदी व्यक्ति को दिया जाय, जिसने कोई मजेदार बात कह दी हो। तब से यह पुरस्कार हर साल जर्मनी में दिया जाता है। तो कहिए कोई मजेदार बात और ले आइए आलू। आलू छीलकर सोने का छिलका आप रख लीजिएगा और आलू हमें दे दीजिएगा।

□

शास्त्रीजी की चिंता



इधर विगत कुछ दिनों से लोग शास्त्रीजी की चिंता कर रहे हैं। शास्त्रीजी? अरे वही जो इलाहाबाद में वी.पी. सिंह के विरुद्ध चुनाव में पिटे हैं—हारे हैं। यानी कि सुनील शास्त्री। शास्त्रीजी कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं? लोग जानने को परेशान हैं, परस्पर बातें कर रहे हैं। पर किसी को सही खबर नहीं है कि शास्त्रीजी कहाँ हैं।

शास्त्रीजी अगर इलाहाबाद में नहीं हैं तो जरूर सिनेमा चले गए होंगे—मुंबई। वे पहले सिने-जगत् कूच कर गए थे राजनीति से मुँह मोड़कर। वे वहाँ फिल्म में गीत लिखने लगे थे।

इस खबर से लोग खुश थे। अच्छा है, राजनीति के गंदे वातावरण से निकलकर सितारों की दुनिया में स्वच्छ और सुंदर परिवेश में सुखद गीत लिखेंगे तो आम लोगों की जबान पर छाए रहेंगे। नेता भी तो बस नाम और नाम का भूखा होता है। अभिनेता और फिल्मी जीवन से जुड़ा कलाकार भी नाम और नाम मारता है। हालाँकि फिल्म लाइन में प्रतिभाएँ चप्पलें चटखाती भुखमरी की कगार पर अधिक पहुँच जाती है। पिछले दिनों दूरदर्शन 'मनोरंजन' नहीं, त्रासदी दिखाता रहा था।

फिल्म लाइन की कड़वाहट बाद में मालूम पड़ती है। प्रेमचंद, नागर, नीरज—सभी फिल्मों में जाकर लौट आए। नीरज ने फिल्म में 'शोखियों में घोला जाए फूलों का शबाब' जब लिखा तो बड़ी कोफ्त

हुई, तभी वहाँ से लौटकर लिखा—'चलते-चलते पहुँच गए हम, भाव-नगर से अर्थ-नगर में।'

वास्तव में कुछ लोग शौकिया तौर पर भी लाइन बदलने का स्वाद चखते हैं या भावावेश में आ जाते हैं। अब जैसे अमिताभ बच्चन फिल्म में खासे फिट थे, चले आए हाथ मजबूत करने राजीव गांधी के। वे राजनीति में जीरो थे, इससे क्या कि सुपर हीरो थे।

जब विरोधियों और कांग्रेसियों के जूडो कराटे वास्तव में देखे तो भूल गए शौक और फिल्मी चौकड़ी। दे गए इस्तीफा और तोड़ गए राजीव से दोस्ती। कहते थे कि हाथ मजबूत करेंगे। ऐसे हाथ मजबूत होते हैं—इस्तीफे देकर?

अमिताभ राजनीति में पिटकर फिल्मों में जब गए तो उनका 'शहंशाह' पिट गया। तो फिर घबराकर अभी इलाहाबाद दौड़े थे। लेकिन ईश्वर ने उन्हें सुबुद्धि दे दी कि उन्होंने वहीं फिल्म में ही मजबूती से अपने पैर जमाए रखने की सोची, न कि राजीव के हाथ मजबूत करने की। क्योंकि एक बार फिल्म में पिटना-पीटना ठीक है। वहाँ हकीकत में भी पिट जाओ तो फिल्म हिट हो जाती है, जैसे—'कुली'। कुली की शूटिंग में अमिताभ सचमुच पिटे तो फिल्म चली। ऐसा राजनीति में नहीं होता। जो पिट गया सो गया दस-पाँच साल तक। कोई नाम-लेवा नहीं रहता। उसका पता नहीं चलता।

राजनीति और फिल्म दोनों में अगर पिटाई हो जाए तो उसका बेचारे का बड़ा बुरा हाल होता है—उसकी एक प्रकार से पैदल मात हो जाती है। कमबख्त को 'पदयात्रा और शांतियात्रा' के लेबल पर देश-निकाला हो जाता है।

अब देख लो अपने सुनील दत्त साहब को। खासे 'अजंता आर्ट्स' में बॉस और सुपर-सफल नायक थे। अब हर समय पदकते रहते हैं। अपने देश में तो लोग शांति करा नहीं पाते, विदेश और चले जाते हैं। खैर!

बात सुनील शास्त्री की हो रही थी। मैं सोचता हूँ कि कहीं

शास्त्रीजी ने भी शौकिया लाइन बदली तो नहीं की थी? और वे भ
किसी के हाथ-पैर मजबूत करने तो नहीं आए थे? यदि ऐसा है तो क्य
मैं उनके भी इस्तीफे की प्रतीक्षा करूँ? मगर वे इस्तीफा कहाँ से देंगे—
फिल्मी जीवन या इल्मी (राजनीतिक) जीवन से?

मंत्रियों का डबल मार्च

कुछ दिन पहले उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री ने एक घोषणा और आदेश जारी किया था कि उनके मंत्रिमंडल के दो सदस्य तीन माह तक हर हफ्ते दो दिन पदयात्रा किया करेंगे, यानी हर हफ्ते मंत्रियों का डबल मार्च।

इसे किसी ने नहीं माना। हुआ यह कि उत्तर प्रदेश से उपचुनाव में कांग्रेस साफ—तीनों सीटें विपक्ष ले गया।

वास्तव में यदि मुख्यमंत्री की बात मानी गई होती और मंत्रियो ने प्रदेश में डबल मार्च किया होता तो शायद ये दिन न देखने पड़ते। मुख्यमंत्री ने एक ऐसी सुखद घोषणा की थी, जिससे लाभ-ही-लाभ दिखता है।

मंत्रिमंडल के लोग डबल मार्च करते तो उनको जनता के दुःखों-दर्दो को काफी निकट से देखने-समझने का अवसर मिलता।

पदयात्रा से स्वास्थ्य-लाभ विशेष होता। मंत्रियों की टाँगें मजबूत होतीं। जनतंत्र में पैर मजबूत हों तो जमे रहने की पूर्ण संभावना रहती है। दुश्मनों और विरोधियों को टाँगें खींचने का कतई साहस नहीं होता। वे खीचना भी चाहें तो मजबूत टाँगें खींच ही नहीं सकते। अगद के पाँव जो इतने मजबूत थे कि रावण का कोई पराक्रमी सेनानी उसे हिला नहीं पाया, तो इसके पीछे भी पदयात्रा का ही महत्त्व है, वनो-वनों अंगद और

वानर घूमा करते थे।

पदयात्रा से अधिकांश नेता-मंत्रियों के पेटों के रोग और गैस की बीमारियाँ दुरुस्त हो जातीं और शरीर स्वस्थ। और जब प्रसन्न स्वस्थ मन से कोई कार्य होता तो मनचाही सफलता मिलती ही, यह बात कौन नहीं जानता!

विरोधी पक्ष, जो सत्तापक्ष के मंत्रियों पर मोटरकारों और अन्य वाहनों पर ऐश करने के आरोप लगाते हैं, उनसे मुक्ति मिलती और विपक्ष की इस मामले में बोलती बंद रहती। वास्तव मे एक अच्छी शुरुआत यदि हो तो उससे प्रभावित कई काम भी अच्छे होने लगते है।

पदयात्रा से गांधी और विनोबा के सच्चे अनुयायी होने का प्रचार मुफ्त मिल जाता है। इसके अलावा जगह-जगह और घाट-घाट का पानी पीने का सुअवसर मिलता है, सो अलग। ऐसे में जहाँ और जिस जगह का पानी खारा लगे तो लगे हाथों नमक बनाने की सुविधा मिल जाती है। 'डांडी मार्च' भी इसी पदयात्रा में उत्पन्न हो जाता है। यानी पदयात्रा में 'बाइप्रोडक्ट' लाभ अनेक हैं।

मेरे विचार में राजीव गांधी को पूरे देश के मंत्रियों को अनिवार्यत: डांडी मार्च की जगह डबल मार्च ही कराना चाहिए था। डबल मार्च उन नेताओं-मंत्रियों के लिए 'दंड मार्च' भी होता, जो कभी अपने इलाकों में नहीं आते-जाते और कोई रचनात्मक कार्य नहीं करते। डांडी मार्च वगैरह तो इसी डबल मार्च में से निकल आता है। खैर!

इस उपचुनाव में कांग्रेस की जो हालत हुई है उसे देखते हुए यदि मेरे मशवरे पर प्रधानमंत्रीजी गौर करेंगे तो जरूर वे और उनकी कांग्रेस फायदे में रहेगी।

□

उसकी हिलती दुम को रोको

मेरे मित्र इन दिनों अपने कुछ साथियों के साथ लोगों को जगाने का पुण्य कर्म करने में लगे हैं। सोतों को जगाने का काम उन्हें पुण्य कर्म लगा। दरअसल, नेताओं की तरह उनकी आत्मा भी आवाज कर उठी। सो वे आत्मा की आवाज पर समाज को जगाने में लग गए हैं।

मुझे मिले तो अपना पुण्य कर्म बताते हुए कहने लगे कि 'अपने देश के लोग सोते रहते हैं। हर समय कुंभकर्ण बने रहते हैं। कुंभकर्ण तो कम-से-कम छह महीने बाद जाग जाता था। लेकिन लोग हैं कि आजादी की आधी शताब्दी से अधिक बीत जाने के बाद भी सो रहे हैं।'

मैंने कहा, 'यार, क्यों ख्वाहमख्वाह बुरा-भला कह रहे हो। लोग बेचारे सोते कब हैं? मुझे नहीं लगता कि इस देश में लोग चैन से सो पाते हैं। ऐसा नहीं होता तो रोजाना नींद न आने पर लेख नहीं छपते। मैं देखता हूँ कि रात के बारह-चौदह बजे तक दूरदर्शन जगाता है। जब केबल पर नई फिल्में आती हैं तो लोग सारी रात जागते हैं।

'दूरदर्शन से अगर बच गए तो बिजलीवाले जगाते हैं। अँधेरे में स्वतः जागरण होता है। मच्छरों के गैंग भन-भन करते जगाते हैं। झपकी भी आ जाए तो डंक चुभोकर जगा देते हैं।'

मैंने मित्र को रात्रि जागरण की व्यथा बताते हुए कहा, 'कच्छा-बनियानधारी बदमाशों के कारण लोग छतों पर पहरा देते जागते हैं।

महँगाई ने तो अच्छे अच्छों की नींद उड़ा दी है प्याज फिर दस रुपए किलो से ऊपर उठ गया है। आलू-टमाटर भी किसी से कम नहीं। इन दिनों टमाटर दो रुपए किलो मारा-मारा फिरता था, वह भी चौबीस रुपए तक उछल गया है। बम-विस्फोटों ने लोगों की नींद छीन ली है। दिन-दहाड़े अपहरण से हर समय आँखें फटी रहती हैं। अब भला तुम किसलिए जगा रहे हो? क्या जगा-जगाकर लोगों को मार डालने का इरादा है?'

मित्र मुसकराकर बोले, 'नहीं यार, ऐसा कुछ नहीं। मेरा जागरण तो बौद्धिक जागरण है, प्रबुद्ध लोगों को उनके दायित्वों के प्रति जगाने का प्रयास है, विशेषकर पत्रकार वर्ग को जगाना है। आज पत्रकार भी भटका हुआ है। कस्बाई पत्रकार तो क्षेत्रीय हितों से आँखें मूँदे हुए है। अगर पत्रकार सोता रहेगा तो लोकतंत्र सोता रहेगा। पत्रकार तो लोकतंत्र का चौथा पाया है।'

मैंने कहा और मित्र को बताया कि 'राजेंद्र यादव 'हंस' वाले कहते हैं कि पत्रकार तो सोता ही नहीं, फिर तुम उसे क्यों जगा रहे हो? राजेंद्रजी पत्रकार को कुत्ता बताते हैं। कुत्ता सोते-सोते भी जागता रहता है। जरा सी आहट पर जाग जाता है। पत्रकार कुत्ते की तरह विषमताओं, अजूबों और विसंगतियों पर भौंकता है।'

'मगर पत्रकार भौंक कहाँ रहा है?' मित्र तुरंत बोला, 'वह तो जगह-जगह दुम हिला रहा है।'

'तो फिर भाई, उसकी दुम हिलाने की बढ़ती प्रवृत्ति को रोको।'

मैंने भी तपाक से सलाह दी, 'पत्रकार दुम हिलाना छोड़ दें तो समझो, सबकुछ ठीक है; क्योंकि कुत्ता भी जब दुम हिलाना बंद कर देता है तो वह आदमी हो जाता है, स्वाभिमानी हो जाता है। फिर पत्रकार तो पत्रकार है, आदमी है।'

□

बच्चे क्यों दौड़ते हैं



कुछ अरसे से देश मे विभिन्न मौकों और मकसदों के लिए बच्चों को दौडाया जाने लगा है। एक फैशन और चलन-सा हो गया है। किसी की जयंती है तो बच्चे दौड़ें। आतंकवाद मिटाना है तो बच्चे दौड़ें। सद्‌भावना लानी है तो बच्चे दौड़ें। मेल-मिलाप बढ़ाना है तो बच्चे दौड़ें।

ठीक है भई! दौड़ने से सद्‌भावना आती है, आतंकवाद मिटता है, भाईचारा पनपता और एकता आती है; तो फिर पेट के लिए दौड़ो। भूख और गरीबी के लिए दौड़ो। दौड़ने से कोई समस्या हल होती है तो भई, जरूर दौड़ें। लेकिन फिर बच्चे ही क्यों, सारे लोग—बच्चे-बड़े-बूढ़े भी—दौड़ें।

पर मुझे आश्चर्य है कि कोई नहीं दौड़ता। बड़े-बड़े सेठ-साहूकार नहीं दौड़ते। नेता-मिनिस्टर्स नहीं दौड़ते। दौड़ते है तो बस बच्चे। मैं बच्चों को दौड़ाने के कतई खिलाफ हूँ। उनमें तो वैसे ही भाईचारा, साप्रदायिक सौहार्द कूट-कूटकर भरा होता है। वे तभी तो एक साथ खेलते हैं। किसी भी मजहब या जाति के हों। साथ खा-पी लेते हैं, साथ पढ़ते हैं। चाहे जिस कौम के बच्चे हों, मलिनता व कुटिलता से दूर रहते हैं। फिर भला बच्चे क्यों दौड़ें!

दौड़ना ही है तो कांशीराम और मुलायम दौड़ें, मायावती और

कल्याण सिह दौड़े, ममता और ललिता दौड़े जनता दल के लालू और पासवान दौड़े। कांग्रेस के नेता दौड़ें, जहाँ खड-खंड मे पाखंड है। और भी बड़े-बड़े नेता साथ-साथ दौड़ें। इन सब में मेल-मिलाप और स्नेह-सौहार्द की भारी कमी है। हर समय झगड़ते रहते हैं। सदन तक में मारपीट करते लहूलुहान हो जाते हैं। लेकिन नहीं। नेता खुद तो बड़े-बड़े घोटालों, हवालों के लिए दौड़ेगा। विदेश-यात्राओं के लिए दौड़ेगा, सोने-चाँदी के लिए दौड़ेगा। कुरसी के लिए भागेगा। बच्चों को दौड़ने के लिए लगा रहा है। आखिरकार माता-पिता भी अपने बच्चों को क्यों दौड़ा रहे हैं? और खुद बच्चे भी क्यों दौड़ रहे हैं? समझ में नहीं आता कि इन्हें कैसे समझाया जाय? मासूम और भोले बच्चों को व्यर्थ की दौड़ से बचाया जाय।

□

रैलीवाले रामसींग



'वाह भाई, रामसींग! यहाँ भी?' रैली में जा रहे एक व्यक्ति को देखकर मेरे साथ चल रहा मेरा दोस्त उसे टोकता है।

मैं उसे देखता हूँ। वह अधेड़ उम्र का धोती-कुरतावाला एक अर्द्धग्रामीण है। वह पास आकर रुक जाता है। रैली की भीड़ से निकलकर एक तरफ खड़ा हो जाता है।

'आप रामसिंह हैं या रामसींग?' यकायक मैं उनके नाम को लेकर शुद्ध होना चाहता हूँ।

'नाम तो मेरा रामसिंह ही है, पर प्यार और मेरे स्वभाव के कारण लोग मुझे 'रामसींग' कहते हैं। दरअसल जहाँ कहीं मेरे सींग समाते हैं, मैं वहीं समा जाता हूँ।' वह स्पष्ट करता है।

'क्या मतलब?' मैं पूछता हूँ।

'अभी पिछले महीने जो चौधरी की रैली हुई थी, मैं उसमें भी समाया हुआ था। एकदम सबसे आगे ताँगे पर लदा हुआ। मैं माइक पकड़कर चीख रहा था। मेरी गलाफाड़ नारेबाजी से अचकचाए भीड़ में लोग हक्के-बक्के से हो रहे थे। अकेला मैं ही उस जत्थे में शोर मचा रहा था।'

'शायद इसीलिए भीड़ कोलाहल नहीं कर रही थी!' मैं बीच में ही व्यंग्य से मुसकराता हूँ।

'हा-हा, हा', वह बताता है. 'दरअसल भीड़ के लोगों को पेस और लंच की सुविधा नहीं दी गई थी, जो मेरी तरह बुक्का फाड़कर चीखते।'

'आपको क्या मिला था?'

'मुझे पाँच सौ इक्यावन रुपए मिले थे इन पचीस--तीस लोगों का जत्था लाने के।'

'इसीलिए इनका नैतिक दायित्व हो गया था कि ये माइक को अपने मुँह में घुसेड़-घुसेड़कर नारेबाजी कर रहे थे।' यकायक मेरा मित्र रामसींग की ओर देखकर हँसता है।

'क्या बताएँ, भैया।' अब रामसींगजी भी खुल जाते हैं—मुसकराते है, 'मेरा तो वश नहीं था, वरना माइक को चबाकर निगल जाता। ऐसे पराक्रम दिखाने के अवसर जीवन में मुद्दतों बाद मिलते हैं।'

'शायद उसी शौर्य और पराक्रम से प्रभावित होकर आज की रैली का ठेका मिला है।' मेरा दोस्त व्यंग्य से कहता है। फिर पूछता है, 'इस बार क्या पाए हो?'

'पूरे एक हजार एक।' वह बताकर कहता है, 'अभी पश्चिमी उत्तर प्रदेश में रैली करने जाना है। बस ले जाऊँगा तो पूरे दस हजार मिलेंगे।'

तभी वह गर्व से कहता है, 'अब तो रेट खुल गया है, भैया। उसके लिए दोनों चौधरियों को धन्यवाद देना होगा।'

'फिर तो चाँदी-ही-चाँदी है।' मेरा दोस्त कहता हुआ मुसकराता है।

'भविष्य को कौन नहीं सुधारना चाहता, भैया।' रामसींग आशा भरे स्वर में कहता है, 'क्या पता अगली पार्टी का नेता पंद्रह और बीस हजार का भाव बढ़ा दे।'

'इस रैली का उद्देश्य क्या है?' यकायक मैं विषय बदलता हूँ।

'अपने विरोधी को दिखाना कि इतनी भीड़ हम भी किराए पर ला सकते हैं।' रामसींग तीखी बात कहता है, 'दरअसल, लोग तो यह भी

नहीं जानते कि रैली का अर्थ और मकसद क्या है?'

'तुम जानते हो?'

'हॉ, मैं इतना जानता हूँ कि भूसे और गारे की तरह बसों, ठेलों, ट्रैक्टरों में ढो-ढोकर एक मैदान में घूरे की तरह लोगों को पटक देने को रैली कहा जा सकता है।'

'हॉ-हाँ, हाँ।' उसकी इस परिभाषा पर उसके साथ मैं और मेरा मित्र तीनों हँस पड़ते हैं।

'तो क्या लोग स्वेच्छा व उत्साह से नहीं आते रैलियों में?'

'उत्साह?' रामसींग चौंकता सा है, 'महँगाई के मारे सारा उत्साह चूर हो गया है—कहाँ है उत्साह?'

'तो इन बातों को अपने नेता के आगे क्यों नहीं रखते?'

'हूँ ह ।' वह हँसता है, 'आप भी कैसी बातें करते हैं। वह नेता ही नही जो इन समस्याओं को सुन और समझ सके।'

'फिर साथ में क्यों हैं? क्यों रैली के ढोंग में शामिल होते हैं। क्यो दिखावा करते हैं?' मैं गंभीरता से पूछता हूँ।

'जाति, बिरादरी, टोला, मुहल्ला और पड़ोस का मामला है। इस पापी पेट का सवाल है।' वह कहता है, 'जिस मक्कारी और दोगलेपन से आज के नेता पेश आ रहे हैं वैसे ही हम लोग भी इनके साथ…।'

'हम लोग नहीं, सिर्फ तुम।' मैं सरलता से कहता हूँ।

'ठीक कहते हो। पर इस सबके लिए अकेला मैं क्या कर सकता हूँ? हम भी बुराई में बुराई बनकर जी रहे हैं, क्यों? यह एक लंबी बहस और बड़े-बड़े विचारकों के सोचने का विषय है।' तभी वह सहजता से कहता है, 'हम तो भैया, पेशेवर जुलूसिए और जयकारा बोलनेवाले हैं। अभी हमारा असली नाटक अगले चौराहे से शुरू होगा और आपके रामसींग को इस बार इस नेता की जय-जय बोलनी होगी।'

तभी वह हाथ जोड़कर चला जाता है। भीड़ में रामसींग समा जाता है।

□

चुनाव काल



देश के अंदर अब कहीं-न-कहीं चुनाव होते ही रहते हैं। मेरा सुझाव है कि तमाम संशोधनों की तरह एक परमानेंट संशोधन कर दिया जाय कि चुनाव साल-डेढ़ साल में एक बार हो ही जाया करें। क्या ही अच्छा हो कि फसल की तरह साल में दो बार चुनाव भी कटा करें।

मेरा सोचना है कि देश की दशा-दिशा और दल-बदलू कुरसी-प्रिय नेतृत्व ऐसा ही रहा तो चुनाव-काल देश में आलू की तरह सदाबहार बना रहेगा। वैसे भी देश में चुनाव नजले-जुकाम की तरह बहता ही रहता है। कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी का चुनाव होता ही रहता है। कभी आम चुनाव, कभी खास (राष्ट्रपति) चुनाव, कभी प्रधानी का तो कभी नगरपालिका का; यानी कि चुनाव होते रहना लोकतंत्र की नियति है। लोकतंत्र चुनाव से बचकर चल नहीं सकता। कम-से-कम इस हिंदुस्तान में तो ऐसा ही प्रतीत होता है। सच बात तो यह है कि हम चुनाव कराए बिना चैन पा ही नहीं सकते।

भारत, चूँकि चुनाव-प्रधान देश है, इसलिए जनता भी चुनाव की प्रतीक्षा साल-छह महीने में ही करने लगती है। यानी जनता भी चुनाव बार-बार होने का विरोध नहीं करती। चुनाव चाहे हर महीने हों, महँगाई, टैक्स कितना ही बढ़ जाए, मगर चुनाव जरूरी हो जाता है। यहीं लोकतंत्र और जम्हूरियत का सवाल खड़ा हो जाता है।

चुनाव-काल सच में वह समय होता है, जब गाँव और शहर एक हो जाते हैं। एक लहर चलने लगती है। एक ही चकचक होती है। कोई जीते, कोई हारे, कोई फर्क नहीं। ऐसे में सवाल हकों का होता है। आत्मा चीखने लगती है अपनी पहचान के लिए। हर प्रत्याशी को अपना इलाका याद आने लगता है। क्षेत्र की पीड़ा सताने लगती है। दलितों-कुचलों का खयाल परेशान करने लगता है। चुनाव क्या आता है, बस—पीडा-करुणा, सहयोग-सौहार्द, निष्ठा-प्रतिष्ठा की थैलियाँ बरसने लगती है सर्वत्र। अपने क्षेत्र और इलाके से अपना संबंध स्मरण कर-करके प्रत्याशी गद्दार होने लगता है। वह अपने इलाके में ही भस्सी दीवार की भाँति गिरा पड़ा रहता है।

वास्तव में, यही वह समय होता है जब मतदाता और नागरिक को नेताओ, मंत्रियों, प्रत्याशियों से अपनी रिश्तेदारियाँ, जाति-बिरादरियों आदि का पता चलता है। पंडों को भी मात देनेवाली शैलियों मे नेतागण जब वोटरों के दादो-परदादों से भी दूर-दूर तक की रिश्तेदारियाँ खोजकर लाते हैं तो मतदाता का मन भौंचक होकर, उनके खोजी स्वरूप और प्रवृत्ति को देखकर, डिस्को डांस करने लग जाता है। मतदाता यानी कि हम सबको यकीन होने लगता है कि गरीबी को ऐसे ही खोज-खोजकर दूर कर दिया जाएगा।

चुनाव-काल, आत्मबोध-काल होता है। हर मतदाता स्वयं को महान् अनुभव करने लगता है। उसके दरवाजे पर बड़ी-बड़ी मोटरें खड़ी होने लगती हैं। बड़े-बड़े लोग उसके सामने बौने होकर गुहार करने लगते हैं। चौखट पर बड़ी-बड़ी मूँछें टिकी रहती हैं। बंदूकें-स्टेनगनें नमस्कार करती हैं।

यकीनन कुछ समय (चुनाव तक) के लिए वातावरण सौहार्दपूर्ण और वसुधैव कुटुंबकम् वाला हो जाता है। प्रत्याशी चाहे जो हो, भैया-दादा, चाचा-ताऊ हो जाता है और बना देता है। मौसम रंगीन दिखाई देता है—भले ही झंडों के कारण। गाजे-बाजे, गानों से माहौल मधुमय प्रतीत होता है। मेले और महामिलन के दृश्य तो इसी समय उपस्थित होते हैं।

भला ऐसे मधुर और रोमांचक क्षणों की कोई क्यों न प्रतीक्षा करे ? एक चुनाव-काल ही तो है, जहाँ नेता हो या अभिनेता, राजा हो या रंक, प्रत्याशी हो या मतदाता—सभी धान बाईस पसेरी हो जाते हैं।

फिर आज के चुनावों की तो बात ही कुछ और है—नेता, हीरो-हीरोइनें, डाकू-बागी, लठैत—सभी मतदाता के सामने दीन-हीन होकर आते हैं। मतदाता भी खुश रहता है कि एक दिन तो उसके आगे सभी 'मुलायम' हो जाते है।

□

कवि का बीमार होना



डॉक्टर कहता है कि बीमारी भी एक फायदे की चीज है। बीमार रहने से शरीर के अंगों को पूरा आराम और लाभ मिलता है। डॉक्टर की राय में बीमारी का स्वागत करना चाहिए। समझदार लोग बीमारी से घबराते नहीं। डॉक्टर का यह भी कहना है कि बीमारी के दिनों में मन और मस्तिष्क दोनों प्रखर और सक्रिय हो जाते हैं।

डॉक्टर की दृष्टि में बीमारी कोई दुःखद नहीं, सुखद स्थिति है। हूँऽ। तभी मैं कहूँ कि कवि और साहित्यकार प्रायः बीमार क्यों बने रहते हैं? कवि का बीमार होना सचमुच ही सुखद घटना है। अच्छी-अच्छी कविताएँ वह बीमारी के दिनों में ही रचता है। बीमारी के क्षणों में एकदम विरोग एवं स्वस्थ विचार स्वतः ऊर्जा के रूप में मिलते हैं।

सच बात तो यह है कि बीमारी के दिनों में वास्तविक बीमार तो परिचित एवं मित्रगण ही नजर आते हैं। ये लोग चेहरे-मोहरे से म्लान और मरियल आवाजें लिये जब मिजाजपुर्सी करने आते हैं तो 'सो सुख उमा जाइ नहिं बरना' वाली स्थिति बीमार की हो जाती है। और वह 'पुलकित तन मुख आव न बचना' वाली दशा में पहुँच जाता है।

मेरे एक मित्र हैं। ये, सच मानिए, मित्र तो कम, पर कवि ज्यादा हैं। मेरा तात्पर्य है कि वह मैत्री की बातें कम और कविता सुनाने की पोजीशन में अधिक रहते हैं। साथ ही वे दनादन बीमार भी होते रहते हैं।

अधिकतर वे घर पर ही बीमार हो जाते हैं। असल में, घर पर उन्हें बीमार होने और बने रहने की सुविधा अधिक है। उनकी पत्नी सीधी-सादी और धार्मिक प्रवृत्ति की ठोस भारतीय नारी है, सो उन्हे (पति को) बीमारी और तीमारदारी की पूरी सुविधा दिए रहती है।

जब मैं उनके पास जाता हूँ तो वे मेरे मित्र कवि महोदय मुझे देखते ही कविताओं की स्टेनगनें-सी दाग देते हैं। काफी कविताएँ पड़े-पड़े बनाकर एकत्रित किए रहते हैं।

वे कहते हैं कि बढ़िया कविता बीमार रहकर ही लिखी जाती है। कीट्स जैसे महान् कवि ने बीमारी के दिनों में ही अपनी स्वस्थ-सदाबहार कविताएँ लिखीं। सो वे मेरे मित्र हर समय बीमारीवाली पोजीशन में रहते हैं। उनका सुझाव है कि घर पर सुविधा नहीं हो तो अस्पताल में नर्स और डॉक्टर को कुछ दे-दिलाकर 'बेड' हासिल किया जा सकता है। अस्पताल में मामला फिट हो जाए तो वहाँ खुराक भी अच्छी मिलती है—सब तरफ से, सब तरह की। प्रचार भी होता है और वहाँ हमदर्द भी ज्यादा पहुँचते हैं। असल में टैंपो तो अस्पताल में ही बीमार रहकर बनता है।

मेरे उन कवि मित्र के अनुसार यह सब करना ही पड़ता है—अच्छी कविताओं के सृजनार्थ।

एक बात और—बीमारी के दिनों में सच्चे मित्रों की परख तो होती ही है, कुछ नवोदित और धैर्यवान् काव्य-प्रेमी भी निकट आते हैं। बीमार को भैया, सभी झेलते हैं। उसे बीमारी के दिनों में कोई हूट भी नहीं करता। सो स्वयं कवि द्वारा त्याज्य (रिजेक्टेड) काव्य, बीमारी के क्षणों में जब आगंतुक हमदर्द को सुनाया जाता है तो वह एक नया आइडिया होती है—एक ऊँची चीज होती है।

अब डॉक्टर कहता हो या नहीं कहता हो, परंतु मेरे कवि मित्र को देखकर मेरा कवियों को सुझाव है कि वे बीमारी का सुख अवश्य ग्रहण करें, ताकि समाज के लिए वे सुंदर धारदार कविताएँ सृजित कर सकें। लेकिन बीमार होने के पूर्व यह अवश्य तय कर लें कि उनका बीमार पड़ना घर में सुविधाजनक रहेगा या फिर सदर अस्पताल में!

☐

उत्तम कोटि का जूता



जूता आदमी का आधार है। जूते पर आदमी टिका है। जूते से ही आदमी की शान है। जूता आदमी की जान है। जूता न हो तो आदमी मृतक समान है। आदमी बेहोश हो तो जूता होश में लाता है। जूता कई बार कई जगह रामबाण की भाँति सफल हो जाता है।

जूते से आदमी की पहचान होती है। बड़े लोगों के जूते बड़े चमकदार और कामदार होते हैं—झकाझक। छोटे लोगों के छोटे, मजबूत और टिकाऊ होते हैं। बहरहाल जूता हर आदमी को चाहिए।

एक जमाना था, जब जूते को लोग बड़ा सँभालकर रखते थे। अधिकतर जूतों को लोग बगल में दबाकर तथा छुपाकर चलते थे; क्योंकि जूता आदमी की असलियत प्रकट कर देता है। व्यक्ति की संपन्नता-विपन्नता आदि सभी बातें जूते से जाहिर हो जाती हैं। व्यक्ति का व्यक्तित्व भी जूते में ही चमकता है। इसलिए जूते को लोग आमतौर पर प्रयोग नहीं करते थे।

जूते का उपयोग किसी विशेष उत्सव या पर्व पर ही होता था। शादी-ब्याह में जूते का चलन अधिक था; खूब चलता था। जिस शादी-ब्याह में जूते न चलें, वह बड़ी मनहूस शादी मानी जाती थी। धीरे-धीरे जूते की महत्ता चुनाव तक आ पहुँची और जूता विधानसभा तक जा पहुँचा। जूते का महत्त्व नेताओं ने बखूबी समझा।

एक बार मेरे एक मित्र बढ़िया जूता पहनना चाहते थे, सो मुझे भी साथ ले गए। उनकी दृष्टि में मुझे जूते की परख अच्छी है। गोया कि मेरी जूतों की दुकान ही होगी या फिर जूते हर तरह के झेले हैं। खैर!

जब जूते की दुकान पर पहुँचा तो दुकानदार भाई ने हर तरह का जूता दिखाया—नोकदार, बुलडॉग, फीतेदार, नागरा; पर मित्र को कोई पसंद न आया। तभी मैंने कहा, 'भई, कोई जूता ऐसा दिखाओ, जो दमखमवाला हो और सबसे उत्तम कोटि का हो।'

जूतेवाला एक पल सोचता रहा। फिर बोला, 'भाई साहब! अब तो अभी मेरे पास यही जूते हैं। उत्तम कोटि के जूते तो सभी एम.एल.ए. (विधायक) लोग ले गए।'

हम लोग बगैर जूते के पिटे-पिटे से लौट आए। मैंने मित्र को तसल्ली दी, 'चिंता न करो, मित्र! ईश्वर ने कृपा की तो निकट भविष्य में उत्तम कोटि का जूता तुम्हें अवश्य मिलेगा।' हाँ, तो मैं जूते की बात कह रहा था।

□

सच, नुमाइश की कसम



नुमाइश फिर लग गई है। हर साल की तरह लोग खुश हैं। सबके अपने-अपने कारण हैं। मैं भी खुश हूँ। मेरा अपना कारण है। दरअसल मैं वर्षों से खुश हो रहा हूँ, इसी तरह। हालाँकि आदमी को आज के माहौल में खुशी मयस्सर नहीं; लेकिन हर आदमी, अगर जीना चाहता है तो, खुशी का कोई-न-कोई बहाना ढूँढ़ ही लेता है। मैंने भी यही किया—कम-से-कम साल में एक बार कुछ दिनों के लिए खुश रहता हूँ। इसके लिए मैं नुमाइश का कृतज्ञ हूँ; नुमाइश आ गई है।

मैं नुमाइश में आ गया हूँ। मैंने रेडियो स्टॉल को बड़ी हसरत और कृतज्ञता से देखा है। यहाँ फरमाइशी गीत बजते, और खोए-पाए की खबरें प्रसारित होती, इंतजार करने-करानेवालों के नाम प्रसारित होते हैं। मैं यहाँ पाँच रुपए देता हूँ। स्टॉल से प्रसारित होता है कि मैं फलाँ का इंतजार फौवारे पर कर रहा हूँ। वह जहाँ कहीं भी हो, मुझसे फौवारे पर मिले।

पर सच यह है कि मुझे किसी का इंतजार नहीं होता। कोई मेरे पास या मिलने के लिए नहीं आता। मैं यों ही फौवारे पर बैठ जाता हूँ, जैसे कि किसी की प्रतीक्षा में होऊँ। मेरा एनाउंस (जो स्टॉल से होता है) इतना खास होता है कि वह किसी फरमाइशी गीत को बीच में ही रोककर किया जाता है। मैं सुनता हूँ फौवारे पर बैठकर। फौवारे पर

बैठकर अपनी प्रायोजित प्रतीक्षा का लुत्फ लेता हूँ। पाँच रुपए में सारे स्पीकर्स गूँजते हैं। शहर भर सुनता है कि मैं प्रतीक्षारत हूँ, मैं नुमाइश में हूँ; कोई मुझसे मिलने आ रहा है। मगर फौवारा चौक गवाह है कि वास्तव में कोई नहीं आता। लेकिन दो-तीन बार तहलका मचाता है स्पीकर कि सावधान, कोई आ रहा है मुझसे नुमाइश में मिलने।

जब मैं फौवारे पर होता हूँ, तब वहाँ अन्य कई लोग बैठे होते हैं। शायद ये भी मेरी तरह फर्जी इंतजार कर रहे होते हैं। फौवारे पर पानी की धार देखते रहते हैं, मूँगफली कुटकते रहते हैं और हम सब 'प्रायोजित प्रतीक्षा कार्यक्रम' का आनंद लेते रहते हैं।

अपने 'प्रायोजित प्रतीक्षा कार्यक्रम' पर जब मैं विचार करता हूँ तो लगता है कि नुमाइश में सचमुच इंतजार के सिवा कुछ नहीं है। सारे प्रोग्राम दर्शकों को देर रात तक इंतजार कराते हैं। फिर वे बोगस निकलते हैं तो भौंकते-कोसते दर्शक अगले साल बेहतर प्रोग्राम होने की उम्मीद में उसी पल से प्रतीक्षारत हो जाते हैं। महँगाई के मारे दुकानों पर दुकानदार ग्राहकों का इंतजार करते रहते हैं। हर तरफ इंतजार का एक सदाबहार माहौल रहता है।

मैं हर साल नुमाइश का इंतजार करता हूँ, ताकि वहाँ जाकर किसी का यों ही इंतजार कर सकूँ और आनंदित हो सकूँ। मैं वहाँ फर्जी इंतजार इसलिए भी करता हूँ, ताकि यह शहर जान ले कि मैं हूँ और नुमाइश में ही हूँ। मैंने नुमाइश को नजरअंदाज नहीं किया है, उसकी परवाह की है। साथ ही मैं अपने अजीजों से कह सकूँ कि तुम लोग प्यारे, दिल्ली, लखनऊ और पहलगाम रहे और मैंने यहाँ नुमाइश पर इंतजार किया। सच, नुमाइश की कसम!

□

आतंकवादी

एक व्यक्ति यकायक गुमसुम हो गया। उसने खाना-पीना छोड़ दिया। उसकी सभी दैनिक क्रियाएँ और नींद लोप हो गई। वह बस पड़ा-पड़ा लंबी-लंबी साँसें भरता रहता।

कहते हैं कि बुरे दिन आते हैं तो यार-दोस्त सभी दूर हो जाते हैं। उसके साथ भी यही हुआ। उसकी पत्नी को बड़ी चिंता हुई। एक नामी डॉक्टर के पास अपने पति को लेकर वह गई। डॉक्टर ने हर प्रकार से उसका चेक-अप किया। मगर मरीज का मर्ज डॉक्टर की समझ में नहीं आया। वह बड़ा हैरान हुआ कि आखिर बीमारी पकड़ में क्यों नहीं आ रही?

तभी डॉक्टर ने मरीज के कान में धीरे से पूछा, 'क्या बात है, दोस्त, कहीं कुछ लिखते-दिखते तो नहीं? कोई कविता-अविता का तो शौक नहीं?'

मरीज यकायक बोल पड़ा, 'धन्य हैं आप, जिन्होंने मेरी पीड़ा और दु:ख को जाना।' फिर वह करुण स्वर में बताने लगा कि 'मैंने एक खंडकाव्य रचा है, जिसे सुनने से मेरे सारे मित्रों और परिचितों, यहाँ तक कि पत्नी तक, ने इनकार कर दिया है। मैं तभी से बहुत दु:खी हूँ। आखिर एक कवि को दूसरा कवि तक सुनने को तैयार नहीं हुआ। वास्तव में मैं अपने अंतरताप से ग्रस्त हूँ।' इतना बोलकर वह पुन: मूक

हो गया—एकदम जड़वत्।

'कोई बात नहीं, मित्र!' डॉक्टर ने उसे सात्वना देते हुए कहा, 'ऐसा करना कि कल तुम टी वी में 'रामायण' सीरियल देखने के बाद अपना खडकाव्य मुझे सुनाने के लिए आ जाना।'

मरीज यह आश्वासन पाकर प्रसन्नता से किलक उठा। उसकी तीन-चौथाई बीमारी तुरंत फुर्र हो गई।

दूसरे दिन वह जब डॉक्टर के घर पहुँचा तो एकदम स्वस्थ प्रसन्न दिख रहा था।

'वैरी गुड।' डॉक्टर ने उसे देखकर प्रसन्नता व्यक्त की।

तभी उसने अपने रजिस्टर को निकाला और उसमें रचित खंडकाव्य 'मूर्च्छित परिवेश' को सुनाना प्रारंभ कर दिया। 'मूर्च्छित परिवेश' सुनते ही डॉक्टर किसी भसभसी मिट्टी की दीवार की भाँति गिरकर मूर्च्छित हो गया। लेकिन वह कवि कुलाँचे भरता हुआ, किसी आतकवादी की भाँति सबसे छिपता-छिपाता अपने घर जाकर चादर तानकर सो गया।

पत्नी उसकी नीरोगता एवं प्रसन्नता देखकर डॉक्टर को दुआएँ देती उसके दीर्घायु होने की कामना करने लगी। ताजा खबर यह है कि डॉक्टर कोमा में पड़ा है। उसके घरवाले डॉक्टर के इलाज के लिए सभी योग्य डॉक्टरों को दिखा चुके हैं। मगर डॉक्टर है कि बिस्तर पर पड़ा है—एकदम अचेत। किसी बड़े शहर के बड़े अस्पताल में ले जाने के लिए व्यवस्था की जा रही है। उधर डॉक्टर की पत्नी ने पुलिस व प्रेस को संक्षिप्त सूचना दी है कि किसी आतंकवादी कवि ने डॉक्टर की यह कोमावाली हालत की है। पुलिस सरगर्मी से उस कवि की तलाशी अभियान में खोजी कुत्तों के साथ घूम रही है।

□

चुनाव-जीत नेता से साक्षात्कार



वे कार से उतरे। भकाभक थे। एकदम सफेद—'रानीपाल'। उतरते ही उन्हें लोगों ने घेरना शुरू किया। उनके पीछे चार-छह बंदूकबाज थे। इन्हीं विशेषणों से लैस होने के कारण मैंने उन्हें पहचान लिया कि वे नेता ही हैं।

वे सिर्फ नेता ही नहीं, चुनाव-जीत नेता थे। तभी तो इतनी सौम्य एवं मधुर-मुसकान फ्लैश कर रहे थे।

दरअसल, वे एक दुकान का उद्घाटन करने आए थे। मैं भी वहीं खड़ा था। इत्तफाक से मेरे हाथ में एक डायरी थी। हाथ में पत्रिकाएँ और जेब में कलम। मेरे चेहरे पर इन सबके कारण अवश्य ही लेखकीय और पत्रकारीय भाव छलक रहा होगा, तभी तो उन्होंने मुझे मुसकराकर देखा था। सच कित्ता ग्लैड वातावरण हो गया था तब! जिसे चुनाव-जीत नेता स्वयं ही मुसकराकर देख ले, उसकी तो सातों पीढ़ियाँ तर जाती हैं। वह व्यक्ति अनंतकाल तक कृतकृत्य हुआ सा खुशहाल रहता है। खैर!

वे जब उद्घाटन करके पलटे तो फिर मुसकराकर देखने लगे। अब मुझसे भी नहीं रहा गया। उनकी मुसकान-मिसाइल बड़ी बेधक थी। 'मान्यवर! आप चुनाव जीत चुके हैं। अब आपका देश एवं जनहित में प्रोग्राम क्या है?' यकायक मैं फिर अपना परिचय देकर उनके निकट पहुँच गया।

मेरा उनके निकट जाना उनकी मुसकान-मिसाइल के प्रभाववश था। वे मेरे प्रश्न पर गभीर हो गए, जैसे एक नेता को वास्तव में अवास्तविक रूप से होना चाहिए। फिर वे बोले, 'भाई! सर्वप्रथम तो देश के लिए मेरा होना आवश्यक है। अपने बने रहने के लिए मुझे स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देना है। यानी कि स्वयं को हृष्ट-पुष्ट और मजबूत बनाना है। आजकल जूडो-कराटे और पहलवानी का प्रशिक्षण लेने लगा हूँ। इससे 'सदनों' में होती रहनेवाली बॉक्सिंग और फ्री स्टाइल कुश्ती में सक्रिय सहयोग अपनी सरकार को दे सकूँगा और भैया! अपना तो मुख्यमंत्री पहलवान है, सो उसका तो साथ देना ही होगा। उसका साथ हृष्ट-पुष्ट मस्तिष्क से नहीं, शरीर से ही अधिक देना माँगता।'

यह 'देना माँगता' उन्होंने 'बिनीज माँगता' स्टाइल में जब कहा तो मेरे मुख से निकल पड़ा, 'वाह!'

'फिर?' मैंने आगे पूछा।

'फिर क्या!' वे बताने लगे, 'फिर-जनता के लिए भाषण, कुछ कसमें-वादे, योजनाएँ, योजनाओं पर कोरी चादरों-सी बहसें, दौरे और अपने टी.ए.-डी.ए. नाते-रिश्तेदारों का वर्चस्व कराना...।' कहते-बताते वे कहीं खोने से लगे।

आगे वे अपना कान खुजलाने लगे और तपाक से बोले, 'गाँवों मे टट्टियाँ बनवाना है और...'

'और?'

'और हमें सोचना और देखना है कि देश गाँवों में टट्टियाँ बन जाने के बाद स्थिर और मजबूत कैसे बन सकता है!'

तभी उनके बगल में एक लंबी सी कार आकर रुकी, जो उनका ड्राइवर ले आया था। अब वे मुझे मुसकराकर नहीं देख रहे थे, मगर उनकी कार मुसकराती हुई सी हौले-हौले आगे, उनके प्रोग्राम के अनुसार, सरकती चली गई।

□

देखने जाना एक दुःखांत फिल्म का



मैं दुःखांत फिल्में देखना पसंद नहीं करता। दुःख भरा दर्शन मेरी प्रवृत्ति और स्वभाव के सर्वथा विपरीत है। पर मेरे मित्र हमेशा मुझे दुःखांत फिल्में देखने के लिए उकसाते, 'देखोगे तो मजा आ जाएगा। वाह, क्या ऐक्टिंग करते हैं ये हीरो-हीरोइन!'

दुःख भरा माहौल देखने में मजा आए, किसी की आह पर मेरी वाह निकले। ये बातें मेरे भेजे और हृदय में कमबख्त उतरतीं ही नहीं। पर मेरे यार लोग नहीं मानते, मुझे हृदयहीन कहते हैं। मैं ट्रैजिक फिल्में नापसंद करता हूँ तो मुझे कठोर कहते हैं। अब भला मैं कैसे कहूँ कि दुःख देखकर कहीं प्रसन्न हुआ जाता है? दुःख को एक मैं तो क्या, कोई पसंद नहीं करेगा। दूसरों को दुःखी देखकर सुखी होना मेरे संस्कारों और संस्कृति में नहीं है।

हुआ क्या? मेरे शहर में एक पुरानी फिल्म लगी है—'देवदास'। दिलीप कुमार के फिल्मी जीवन की चुनिंदा फिल्म। दुःख-ही-दुःख। दिलीप दुःख के सम्राट् कहे जाते हैं। मैंने अपने मित्रों का मन रखने और अपने हृदय पर लगे कठोरता के कलंक को पोंछने हेतु यह दुःख भरी फिल्म देखना निश्चित कर लिया।

सच मानिए, मैं दुःख भरी फिल्म 'देवदास' देखने के लिए काफी प्रसन्न मन से तैयार हुआ। मेरी बहन मेरे लिए लखनऊ का कुरता-

पाजामा लाई थी, सो पहना। पाजामे के नाड़ेवाली नाली में कुछ रेजगारी भरी और कुरते मे दस का एक नोट। लो बस, हो गए फिट। एक पुरानी और हिट दु:खांत फिल्म देखने को चल पड़ा। मन किलकने लगा था दु:खांत फिल्म देखने को।

पर टॉकीज की भीड़ और खिड़की पर धक्कम-पेल देखकर मन दु:खी हो गया। बालकनी बंद। फर्स्ट क्लास में भले-भले और बड़े लोग लगे थे। राशन की लाइन से चौगुनी लंबी लाइन देख मन और भी दु:खी हो गया। इसमें लगा तो कभी नंबर नहीं आएगा और टिकट हरगिज नही मिल पाएगा।

शाम छह बजे से शुरू होनेवाला शो वैसे ही भुस की तरह भरता है। मैंने निर्णय लिया—सेकेंड क्लास का आदमी हूँ, सो सेकेंड में ही देखूँगा। सेकेंड क्लास में फर्स्ट क्लास फिल्म देखने का दु:ख जीवन भर रहेगा, यह सोच मैं सेकेंड क्लास में घुस गया। यहाँ मैं एक बात बता दूँ कि रेलों की तरह अब सिनेमा घरों में भी थर्ड क्लास नहीं रहा। अब सेकेंड क्लास को ही थर्ड क्लास या थर्ड क्लास को ही सेकेंड क्लास कहते हैं। दरअसल, सेकेंड क्लास आदमी थर्ड क्लास ही समझा जाता है। थर्ड सेकेंड का फर्क मिटाकर में पहल करके सरकार ने दोनों वर्गो में अपनी ख्याति अर्जित की है। खैर, फिल्म में राजनीति और सरकार क्यों घुसी आ रही है? सॉरी।

लाइन में लगा मैं विचारमग्न था कि एक जोर का धक्का पीछे से आया—बोल पिलेअनवाले की जय। इस जयकारे के साथ मैं एक स्प्रिंग के टुकड़े की भाँति पंक्ति में से निकल-उछलकर आगे एक व्यक्ति के सिर से सिर टकराकर गिर गया। मैंने माथा पकड़ा। एक गूमड़ा मस्तक क्षेत्र में एकाएक किसी आतंकवादी की भाँति उत्पन्न हो गया था।

मैंने धैर्य नहीं खोया। अब आई जाती है मंजिल, अब आई जाती है—शकील बदायूँनी की गजल मन में रामनाम की माला की भाँति फेरने लगा था।

अभी मैं माथे पर उठे गूमड़े के दर्द और दुःख का पूरा मजा (मित्रों की परिभाषानुसार) ले भी नहीं पाया था कि फिर 'बोल सच्चे दरबार की'' जय' का जोरदार प्रहार हुआ और मैं मुँह के बल गिर पड़ा।

मैं हिम्मत कर उठा कि चिर्र की आवाज हुई। फिर चिर्र-चिर्र और चिरा चिर्र "मेरा आधा पाजामा फटकर न जाने भीड़ में किसके पास था। मेरा पाजामा एकाएक घुटन्ना या अंडरवियर बन गया था। कुरते की एक बाँह गायब। मैं मगर अर्धनग्न दशा में भी उठ खड़ा हुआ तो मेरे दुःख का पहाड़ मेरे सामने खड़ा था—हाउस फुल का बोर्ड। यानी कि बहार आने से पहले खिजाँ चली आई।

इस घटना को हुए कुछ अरसा हुआ। यह घटना है कि मैं अब दुःखांत फिल्म का पोस्टर भी देखने की हिम्मत नहीं जुटा पाता।

□

चूहों की ये मजाल

देश में चूहे बढ़ रहे हैं। एक परिवार नियोजन ब्यूरो इनके लिए भी होना चाहिए। सरकार इसपर विचार करे।

चूहे आदमी के बराबर हो रहे हैं। जनसंख्या के साथ-साथ खाना खुराक में भी बराबरी कर रहे हैं। एक चूहा दिन भर में एक आदमी की खुराक खा जाता है। खाने की मात्रा से चार गुनी वह जमा भी करता है। जमाखोरी की यह प्रवृत्ति जानवरों में मनुष्यों से ही पहुँची है। आखिर आदमी की सोहबत का असर तो होगा ही। चूहे खाने और जमा करने के अलावा करोड़ों रुपए की हानि भी पहुँचा रहे हैं।

आँकड़ेबाज कहते हैं कि चूहों की संख्या मनुष्यों की संख्या से सात गुनी हो गई है। अवश्य हो गई होगी। चूहे एक बार में दर्जनों बिया पड़ते हैं।

बड़ा ही मुख्य और शोचनीय प्रश्न है—अगर चूहे मनुष्यों पर आधिपत्य कर उठें तब? तब हम सब चूहे हो जाएँगे। यों भी हम चूहे-से हो रहे हैं। शायद इसी स्थिति को भाँपकर डॉ. धर्मवीर भारती ने अपनी कविता 'सृष्टि का आखिरी आदमी' में लिखा है—'हम सब चूहे हैं, चूहे। हम कुछ नहीं कर पा रहे हैं। चूहे मजे कर रहे हैं।'

चूहे मजे ही नहीं, अत्याचार भी कर रहे हैं सरासर। चूहे हमारी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आघात पहुँचा रहे हैं। खबर थी एक बार कि

चूहो ने कोलकाता मे एक सोती हुई बच्ची को खा लिया। बच्ची मर गई। वैसे भी लोग बाढ़, आँधी और सूखे में मर रहे हैं। इधर भ्रष्ट अफसर भी चूहों से कम नही। आदमी की खाल खींच रहे हैं ये चूहे।

व्यवस्था और सरकार चुप है। मौन। पर सरकार भी करे तो क्या करे? आदमी की कहाँ-कहाँ और किस-किससे रक्षा करे? क्या आदमी चूहों से भी नहीं लड़ सकता। कैसे लड़ सकता है? कहते हैं कि खाक-सी शै भी मायने रखती है। जब भूखा आदमी अपनी ही निगाह में गिरा होता है तो चींटी भी नहीं मार सकता। देश में आदमी भूखा है, सूखा है।

मेरे मुहल्ले में चूहों की दहशत और गुंडागर्दी सिर पर है। पिछले दिनों लाला बीरूमल चूहे की दादागिरी के शिकार हो गए—चूहे-सी मौत मर गए। हुआ यह कि जब वे चूहों के आतंक से ऊब गए तो एक चूहेदानी ले आए। चूहेदानी में एक बड़े मोटे चूहे को पकड़कर मकान से एक फर्लांग दूर एक नाले में छोड़ने गए।

नाले पर पहुँचकर लालाजी ने जब चूहे को चूहेदानी से छोड़ा तो चूहा स्प्रिंग की भाँति एक हाथ ऊँचा उछलकर लालाजी के सिर पर चढ़ा और कूदकर बस्ती की ओर पुनः फरार हो गया। चूहे की जूडो-कराटेवाले हाथों की मार और बचपनी शैली में उछल-कूद से लालाजी घबराकर वहीं नाले पर ढेर हो गए, बेहोश हो गए।

लोग दौड़ पड़े। चूहा फरार था। लालाजी पड़े रहे। वे फिर नही उठे। हार्ट फेल। यह सरासर मर्डर केस था। चूहे ने आदमी को मारा। मगर कुछ नहीं हुआ। चूहा मलखान डाकू की भाँति नहीं पकड़ा जा सका। अब देखिए, श्रीमान, चूहे की यह मजाल कि एक गणतंत्र देश के नागरिक को दिन-दहाड़े मार जाए। आधा किलो वजनी एक चूहे की यह मजाल!

इस आतंकवाद के विरुद्ध एक सामूहिक जेहाद छेड़ा जाय। सरकार भी लोगों को प्रोत्साहित करे। बहादुर लोगों को दो-दो किलो चीनी और सूजी (रवा) और चरबीवाला घी प्रदान कराए। इससे आदमी पर चरबी

चढ़ेगी। कम-से-कम आदमी चूहे से तो अपनी रक्षा कर सकेगा।

वैसे आदमी और नागरिकों की रक्षा करना सरकार और पुलिस का परम और पहला कर्तव्य है, धर्म है। क्या सरकार और पुलिस प्रशासन देश को चूहों से भी नहीं बचा सकते? सरकार डाकुओं, लुटेरों और आतंकवादियों को न मार सकी (और उनके आगे घुटने टेकती रही) तो क्या चूहे भी नहीं मार सकती? शायद हम सब, और आप भी, इसका उत्तर चाहते हैं। है कोई जवाब इस पुलिस और व्यवस्था के पास?

□

बाढ़



मायके आई लड़की की भाँति बाढ़ की खबर पूरे शहर में फैल गई। बाढ़ का जायजा और मजा देखनेवालों की कौतूहल-मिश्रित प्रसन्नता का आभास मुझे होने लगा था। 'बाढ़ग्रस्तों' को देखने बाढ़मस्तों का हुजूम यमुना नदी की तरफ दक्षिण की ओर बढ़ा जा रहा था।

बाढ़ की विभीषिका देखनेवालों में मैं भी था।

मैं शहर से गुजरकर, छैराहे से होता हुआ दक्षिण की ओर निचले हिस्से में स्थित धूमनपुरा ग्राम की ओर चल पडा। शहर से लगभग तीन मील दूर। इसी ओर भीड़ का सैलाब। अभूतपूर्व। ठाटदार कपडों में स्कूटर, रिक्शा, इक्का, मोटर पर चढ़े जा रहे लोग, लोग-ही-लोग। पैदल व साइकिलों पर सवार अलग चहचहाते-से शहर के सभ्रांत लोग।

सड़क के किनारों-फुटपाथों पर खिलौने-गुब्बारेवाले, केले के ठेले ले जाते हुए कुँजड़े। चाट-खोमचेवाले। ट्रांजिस्टर, सीटी बजाते हुए बाढ़मस्त लोग।

एकाएक चुगी और नगर सीमा पर पहुॅचते-पहुँचते कुछ ठहरना पड़ा। दरअसल, यहीं से 'बाढ़ग्रस्त इलाका' प्रारंभ होता था। सडक जलमग्न। नावें पडी थी। 'नौका-विहार' के प्रबंध हेतु अपनी-अपनी नावें लिये मल्लाह। इसके लिए लोगों की भीड़। एक होड़। दे-तेरे की

मची थी। दो रुपए प्रति व्यक्ति। जलमग्न धूमनपुरा गाँव देखने जाने और वापसी का चार रुपए प्रति व्यक्ति की दर।

नाववाले मल्लाह बाढ़ आ जाने से खुश लग रहे थे। खासी कमाई कर रहे थे।

तभी मैंने अपनी बाई ओर देखा, पास ही साइकिल स्टैंड लग रहा था।

'आओ भैया, साइकिल--स्कूटर रखो। मजे मे इत्मीनान से बाढ़ देखो।' स्टैडवाला युवक लोगों को बुला-बुलाकर अपना धंधा जमाने मे खुश था।

मैं घूमकर बारादरी किले की ओर बढ़ गया। काफी ऊँचाई और टीले पर स्थित राजा सुमेरसिंह का किला था यह कभी। अब ध्वस्त खंडहर।

'बारादरी' से जलमग्न गॉव स्पष्ट देखा जा सकता था। खासी भीड जमा थी यहाँ। एक हिप्पीनुमा युवक दूरबीन लगाकर देख रहा था।

'फैटास्टिक!' यकायक वह चीखा, 'वैरी नाइस। कितना बढ़िया सीन है!'

वह अपने पास खड़े हुए साथी की ओर दूरबीन बढ़ाकर बोला, 'देख ले, उस पेडवाले घर की छत पर लौंडिया कैसी जम रही है। बिलकुल जीनत अमान।'

उसके साथी ने दूरबीन में एक आँख चिपकाकर गहरी साँस भर ली, 'हाय मेरी जान!'

मैंने देखा, एक ग्रामीण युवती जंघाओं तक धोती को कसे हुए खडी थी अपने घर की छत पर। घर का आधा भाग यमुना के जल ने घेरा हुआ था।

तभी वह दूरबीनवाला कुछ-कुछ कुंठित हुआ सा बोला, 'यार, मजा नहीं आया। सत्यं शिवं सुंदरम् जैसी बाढ़ आती तो आनंद ही और होता।'

मैंने हैरत से उसे देखा कि आकाश पर छाए घटाटोप बादल

पिघल पड़े। बारादरी की भीड भरभराकर नीचे की ओर खिसक पड़ी।

वे दोनों दूरबीनवाले दिग्गज यथास्थान डटे रहे।

नीचे उतरते-उतरते आकाश से बूँदों का टपकना रुक गया। जैसे ही पश्चिम वाली सड़क पर आया कि पुलिया पर एकत्र भीड के निकट ठहर गया। लोग दौड़-दौड़कर भीड़ को घना कर रहे थे।

उधर नौका-विहार करनेवालों में से एक महिला पानी में गिर पड़ी थी। लोग बता रहे थे कि महिला नाव के किनारे बैठी थी। जल-तरंगों को देखते-देखते यकायक ही गिर पडी।

महिला चीख रही थी, 'बचाओ! मुझे बचाओ!'

'मरी साली "बचेगी नही।' तभी कोई भीड़ में से बोला।

'कोई कूदे तो बच सकती है।'

'तो भी नहीं बच सकती।'

'बच गई तो?'

'दस-दस रुपए की शर्त।'

'बच गई तो दस मेरे।'

'भैया, दस मेरे भी।'

दो-तीन सट्टेबाज उस भीड़ में से अलग होकर आ गए।

लोग रोमांचित हुए से महिला के डूबने-बचने की प्रतीक्षा करने लगे।

तभी सेना के एक जवान ने उसे मोटर ट्यूब फेंककर सहारा दिया। फिर उस महिला को अपनी नाव पर खींच लिया।

एकाएक पीठ पीछे हो-हल्ला मच गया। एक ग्रामीण अधेड महिला ने, जो काफी तंदुरुस्त थी, अपनी बगल में एक दुबले-पतले मरियल युवक को दाब रखा था।

अजीब मंजर था। वह युवक छटपटाता-सा अपना हाथ छुड़ाने में लगा था।

'छोड़ूँगी नहीं। पहले बोल, क्या समझकर हाथ डाला था?' वह

झाँसी की रानी मर्दानी महिला उस लौंडे को चपतियाने लग गई।

हतप्रभ भीड़ में से कोई माई का लाल रो रहा था। कोई कह रहा था कि युवक ने उस महिला के सीने पर हाथ डाला था।

कोई बता रहा था कि सीने पर झूलते हार पर। कुछ स्पष्ट नहीं हो पा रहा था। स्थिति अस्पष्ट एवं विवादग्रस्त होती जान पड़ रही थी।

इसी बीच 'हर्र-हर्र' करती हुई कुछ जीपें आ गई। जीपो के आगे-पीछे मोटर साइकिलो पर पुलिस-गाइ्र्स। फिर कारें।

मालूम पड़ गया—मंत्रीजी हैं।

मंत्रीजी के साथ अफसरों व उनकी बीवियों के लिपस्टिकमय लिपे-पुते चेहरे। सारे-के-सारे बाढ देखने आए थे।

उपस्थित जन-समूह का ध्यान अब आगंतुक मंत्री महोदय व साथ के लोगों की ओर मुड़ गया।

तभी वह युवक न जाने कैसे उस महिला से हाथ छुडाकर निजात पा गया। दूर भीड़ में डूब गया। पीछे से एक दीवान सिपाही उस महिला से घटना की जानकारी लेने आ गया था।

पास ही खड़ा एक आदमी अपने आप ही बड़बड़ाने लगा, 'साले, बेईमान कहीं के! पाँच लाख रुपए मजूर हुए थे बाढग्रस्त लोगों के वास्ते। पचास हजार बाँटकर छुट्टी पा गए। चोर कहीं के।'

मैंने देखा कि वह व्यक्ति मंत्रीजी एवं अफसरों की ओर घूरता हुआ भुनभुना रहा था।

उसके कटु सत्य को सुनकर एकाएक मैं कुछ क्लांत-सा होने लगा। एक क्लांतता-सी छाने लगी तो लौट पड़ा।

छैराहे पर आकर जैसे ही घर की ओर जानेवाली दाई सड़क पर मुड़ा तो कानों में आवाज पड़ी, 'बाढ़ का प्रसाद लेते जाना। बाढ़ की निशानी लेते जाना, भाइयो!'

देखा तो एक अधेड़ काला-कलूटा आदमी सड़क के किनारे, बाएँ बैठा चीख रहा था, 'बिलकुल मंदा लगा है। दो रुपए किलो। बाढ का माल बढ़ती में। आओ भाई! खाली मत जाना।'

कुछ लोग उस काले-कलूटे आदमी के पास झुके खड़े थे नीचे की ओर जमीन की ओर देखते हुए। नीचे सुनहरी-सफेद, काइया रंगवाली मछलियों का ढेर छटपटा रहा था।

'बाढ़ग्रस्तों' में मुझे वह ढेर भी लगा—तड़पता हुआ, बाढ-पीड़ित जैसा!

□

सबकुछ हो लेना ब्रदर, पर सम्मानित मत होना



सर्दी के मौसम को मैं हर बार साधुवाद देता हूँ। वह न होती और मेरे शहर में नहीं आती तो मैं हरगिज सम्मानित नहीं होता। शहर के तमाम लोग सम्मानित नहीं होते। हालाँकि गरमी-बरसात मे भी कुछ लोग सम्मानित हो जाते हैं, तो इसमें सम्मानित होनेवालों का कोई दोष नहीं है। उन्हें तो सम्मानित होना ही है। गरमी-बरसात से बच भी गए तो सर्दी में कतई नहीं बच सकते।

शरद् ऋतु के आगमन होते ही अनगिनत समाजसेवी, विशेषकर हिंदी सेवी संस्थाएँ प्रकट हो जाती हैं, जो ढूँढ़-ढूँढ़कर लोगों को सम्मानित करती हैं। यही संस्थाएँ जवान और प्रौढ़ होकर दूर-दूर तक के लोगों को सम्मानित कर डालती हैं। लोग सम्मानित होने के लिए चले भी आते हैं। हों भी क्यों न! जब आज आदमी को मिट्टी के तेल जैसी चीज के लिए डीलर दुकानदार के यहाँ अपमानित होना पड़ता हो, तब सम्मान और आत्मसम्मान जैसी प्रफुल्लित चीज के लिए लोगों का दौड़ना स्वाभाविक ही है।

लेकिन मेरा अनुभव है कि असम्मानित बने रहना ज्यादा सम्मानजनक है। बजाय 'हिंदी मेवा सस्थान', 'हिंदी लेवा संस्थान' और 'हिंदी सेवा समिति' जैसे मंचों से सम्मानित होने के। एक बार मुझे भी पकड़ लिया गया, कहा गया कि चलो सम्मानित होने।

'क्यों भई, क्या कसूर है मेरा?'

'तुम कुछ लिखते-लिखाते हो न?'

'क्यों भैया, ऐसा क्या लिखा?'

'ऐसा कुछ नहीं लिखा, इसीलिए तो सम्मानित हो लो, यार। प्लीज!'

रिरियाने लगा एक 'हिंदी सेवा संस्थान'।

'किसी और को पकड़ लो, भई।' मेरी मिमियाती आवाज निकली।

'अब कोई नहीं बचा है शहर में, तुम्हीं रह गए हो।'

बहरहाल उसकी हालत पर मुझे तरस आ गया। सोचा कि चलो, जब शहर ही सम्मानित हो चुका है, हो रहा है तो मैं भी हो लूँ सम्मानित। मैंने हथियार डाल देनेवाली मुद्रा बना ली, 'कर लेना भई, सम्मानित मुझे।'

सचमुच सम्मान समारोह की सजावट और धूमधाम देखकर मैं बाग-बाग हो गया। कार्यक्रम में कोई प्रांतीय नेता भी आ रहा था। यहाँ तक कि मंत्री-संत्री और गवर्नर के भी पक्के चासेज थे।

सच। धन्य हूँ मैं जो सम्मानित हो रहा हूँ। बड़ी अकड़ और शान-बान से लकालक कपड़ों में सम्मान समारोह के दरवाजे पहुँच गया।

'ऐ, कहाँ जा रहे हो?' द्वार पर खड़े एक पुलिसवाले ने मुझे रोका।

'अंदर समारोह में।'

'कार्ड है?'

'कार्ड है! कैसा कार्ड? वह तो नहीं दिया आयोजक ने।' मैंने अचरज से कहा।

'फिर वहाँ, नाली की उस तरफ सडक पर खड़े रहो जाकर।'

ऐसा अपमान।

मैंने मन-ही-मन कहा। फिर उसे बताया, 'भैया, मै तो यहाँ सम्मानित होने आया हूँ।'

'सम्मानित होने!' गेट का पुलिसवाला चौंका, फिर बोला, 'जाते हो या उठाकर फेंक दूँ?'

तभी आयोजक ने मुझे देख लिया। वह दौडे आए और मुझे उस 'द्वारपाल' के क्रोध से बचाते हुए बोले, 'भई, आपको कार्ड देना भूल गया था। दरअसल, कार्ड सारे अफसरों-नेताओ में बँट गए थे।' वह ही-ही करते हुए जब मुझे अदर पंडाल में ले जाने लगे, तभी सिपाही अपने साथी से मुखातिब होकर बड़बड़ाया था, 'पता नहीं कैसे-कैसे लोग सम्मानित होने चले आते है।'

कार्यक्रम शुरू होने जा रहा था। उसी समय एक कार्यकर्ता अपने सीने पर 'हिंदी मेवा सस्थान' का बिल्ला लगाए मेरे पास आया—

'आप सम्मानित होने आए हैं न—'

मैंने उसे अकडकर देखा और मुसकराकर धीरे से सिर हिला दिया।

मेरा सिर स्वीकार में हिलता देख वह बोला, 'जल्दी से एक कागज पर अपना परिचय और कार्य—क्या-क्या लिखा है, लिखकर दे दीजिए।'

'वह सब आपको पता होगा। आयोजक और संस्था के सस्थापकजी को विदित होगा ही, वरना मुझे सम्मानित क्यों करते!' मैने आवाज मे तेजी लाकर कहा।

'किसी को कुछ पता नहीं है, साहब।'

'तो ऐसे ही सम्मानित किया जा रहा है?'

'और क्या भैया, हमें तो हर साल—हर शरद् ऋतु में किसी-न-किसी को सम्मानित करना है।' वह वही तल्खी लाकर बोला।

'तो गधों को भी सम्मानित कर दोगे, जब कोई नहीं मिलेगा?' मैंने आँखें तरेरकर पूछा।

'बिल्कुल, गधे ही सम्मानित हो रहे हैं इस बार।' उसने जलती आँखों से देखकर बताया।

'ठीक है, गधों को ही सम्मानित करो।' मैं तेजी से उठा और

पंडाल से बाहर जाने लगा।

तभी इस वार्त्ता की भनक आयोजक तक पहुँच गई कि एक असम्मानित लेखक सम्मानित हुए बिना ही पंडाल छोड़कर जा रहा है। दौड़े-दौडे संयोजक-आयोजक आए और मुझे मनाकर सीधा मच पर ले गए।

उन्होंने मंच के कॉर्नर में पडी बेंच पर मुझे बैठाते हुए कहा, 'आप यहाँ बैठें। यहाँ कोई पूछताछ नहीं होगी।'

मैंने देखा कि बेंच पर दो और लोग बैठे थे।

'क्या आप भी सम्मानित होने आए है?' मैंने उन दो लोगो से पूछा।

'नहीं-नहीं।' वे दोनों उठ खड़े हुए, जैसे मैं कोई अछूत व्यक्ति हूँ और परिचय देने लगे, 'यह तो माइक-स्पीकरवाले हैं और मै कैमरामैन हूँ।'

एकाएक पंडाल में गहमा-गहमी, बल्कि एक तरह की भगदड, मच गई। मंत्री और शहर के बडे-बडे अफसरान आ गए थे शायद। शायद क्या, सचमुच 'दुर्जन सिंह व्यापक' खाद्य मंत्री आ गए थे। इनपर तमाम विकास राशि खा जाने का आरोप था। शायद इसी उल्लेखनीय कृत्य के लिए इनका भी सम्मान होने वाला था। इसी बीच चार लोग और आकर मेरे अगल-बगल बैठ गए। वास्तव में ये भी मेरी तरह सम्मानित होने जा रहे लोग थे। मैंने पहले कभी इन्हें शहर में न तो देखा था और न ही इनके नाम पत्र-पत्रिकाओं में पढ़े थे। यह बात इनके नाम आदि पूछकर मैंने जानी थी।

बहरहाल, आयोजकजी ने माइक पकड़ लिया था। आगंतुक तथा मंत्री महोदय मंच पर आकर आसीन हो गए। जिला प्रशासकों की गरदनों में दनादन लोग आ-आकर गुलाब की मालाएँ डालने लगे थे। हाँ, यह बताना भूल ही गया कि इन मंत्री महोदय और प्रशासकों की ऊँची-ऊँची कुरसियाँ मंच पर बीचोबीच पंडाल में बैठे लोगों के सामने लगी थीं। मेरी बेच, जो कोने में मंच पर पड़ी थी, से न तो पडाल के

लोग स्पष्ट दिख रहे थे और न मैं ही पंडाल के लोगो को दिख रहा था। मुझे लगा--जैसे वास्तव मे सम्मान तो इस धूर्त व बेईमान मंत्री और भ्रष्ट प्रशासकों का हो रहा था। लज्जा और कोफ्त से मैं नहाने लगा था।

उसी समय मंत्रीजी ने हार पहनानेवालों को रोका और मुसकान मेरी तरफ फेककर कहा, 'अरे भाई, एक-आध हार इन बेचारों को भी पहनाओ, जिनके कारण मेरा भी सम्मान हो रहा है।'

उस दुर्बुद्धिधारक आयोजक को फिर भी लाज नहीं आई। वह खीसें निपोरकर बोला, 'ही-ही' वे सभी आपसे ही सम्मानित होने आए है।'

तभी नाम ले-लेकर उस आयोजक ने पुकारा और मंत्री के हाथो मेरे साथी लोग सम्मानित हो गए। मंत्री अपने गले में धारण किए हार इन सम्मानित लोगों को पहनाता जा रहा था। जब मेरी बारी आई तो उसके हार समाप्त हो गए। 'चलो, अच्छा हुआ, इसके द्वारा हार पहनने से अच्छा है, किसी साहित्यकार का जूता चाँद पर रख लेता, वह अधिक सम्मानजनक होता।' मैंने मन-ही-मन कहा और ईश्वर को धन्यवाद दिया कि उस मंत्री के हाथो हार पहनने से बच गया।

कार्यक्रम समाप्त होते ही मंत्री ने संस्था को दो लाख देने की घोषणा की। आयोजक भाव-विभोर होकर मंत्री की जय- जयकार करने लगा था। मैं चुप सबसे नजरें चुराकर बिना नाश्ता-पानी किए मंच के कार्यक्रम से खिसककर चला आया था। निर्णय लेता आ रहा था कि सबकुछ हो लेना ब्रदर, मगर इस तरह से सम्मानित कभी मत होना।

□

दिल का बदल जाना



बहुत दिनों बाद सुलभ एक नेताजी से पूछा, 'कहो मान्यवर, आजकल कहाँ?'

'कहाँ कहाँ, आजकल अमुक पार्टी में आ गया हूँ। पहलेवाली से त्यागपत्र दे दिया है।'

'बहुत खूब।' मैंने कहा, 'शायद आपने तो तेरहवी बार दल बदला है।'

'क्या करें, भई! सिद्धांतों के प्रश्न समक्ष आ जाते हैं।'

'हूँ।' मैं उनके समक्ष सचेत हो गया। मेरे अपने बुनियादी सिद्धात। मैं सिद्धांतों की खातिर शहीद हो रहा हूँ। किसी भी दल में जम नहीं रहा हूँ और दल को दलदल नहीं बना रहा हूँ।' वे फिर दु:ख का आवरण डालकर बोले, 'तुम नहीं समझ सकते कि दल बदलना कितना कष्टकर होता है, भाई!'

'तो आप बदलते ही क्यों हैं?' मैंने कहा, 'बुनियादी सिद्धात सभी जगह एक ही है—रोजी, रोटी, आवास, कमजोरों का विकास आदि।'

'वो तो ठीक है, पर हो कहाँ रहा है? सभी अपने-अपने विकास में लगे हैं। मुझे पूछता कौन है!'

'मुझे पूछता कौन है' पर उन्होंने विशेष बल दिया। शायद यही उनकी सघन पीड़ा थी। यदि आपाधापी की राजनीति में उन्हें भी पूछा

जाता तो दल नहीं बदलते। मैं सोच ही रहा था कि तभी वे बोले, 'भई, बदलना कोई मेरे लिए विशेष बात नहीं और न ही किसी को इस प्रवृत्ति को आचरण मानना चाहिए। पृथ्वी, चाँद, तारे, फूल, रंग, स्वभाव सभी ही परिवर्तन की प्रक्रिया में रहते हैं। बड़े-बड़े नक्षत्र और ग्रह अपनी दशा मेरे समान बदलते रहते हैं। बदलना शाश्वत सत्य है। सत्य से मैं परे कभी नहीं हुआ।'

मै उनके शाश्वत सत्य बखान पर मुग्ध हो गया।

तभी वे बोले, 'भई, यह तो इक्कीसवीं शताब्दी और विज्ञान का युग है। जब दिल बदल सकता है, आदमी का सेक्स बदल सकता है तो दल का बदल जाना कोई महत्त्व नहीं रखता।

'विज्ञान और प्रगति के क्षेत्र मे एक ही दशा में पड़े रहना निरर्थक है। एक जगह पड़े रहनेवाली वस्तु में सड़ाँध-गदगी हो जाती है। पानी एक जगह रुका रहे तो बदबू मारता है। इसलिए मैं कभी एक दल मे रहकर बदबू नहीं मारना चाहता।'

उनके तर्क सुनकर मैंने उन्हें आँखें फाडकर देखा और फिर सूँघा—सेंट की-सी खुशबू आ रही थी। भकाभक स्वच्छ चाँदनी का-सा उनका कुरता-पाजामा था। बेदाग।

'पर गंदगी तो आदमी के दिल में होती है, दिखाई नहीं देती।' मैंने अपना अंतिम शस्त्र फेंका।

वे अरुण गोविल की भाँति मुसकराए, 'बरखुरदार, दिल है ही कहाँ आज आदमी के पास? फिर दिलवाले तो दिल बदलने में लगे हैं। भला हो विज्ञान का, जो दिल बदलने में सहायक हो रहा है।'

फिर वे चलते-चलते हमें बदलने का विधान विज्ञान एवं काल सत्य बताते गए, 'जब दिल बदले जा सकते हैं, आदमी-औरत के सेक्स बदले जा सकते हैं तो दल का बदल जाना अब सामान्य घटना है। और यह सत्य है। इसे श्रद्धा एवं आदर प्राप्त होना चाहिए।'

□

माल्यार्पण समारोह

चुनाव जीतने और मंत्री पद हथियाने के बाद उन नेता का अपने शहर की जनता द्वारा भी माल्यार्पण और स्वयं को माला पहनाए जाने की अभिलाषा शेष रही। सो मत्री अपने इलाके और अपने नगर की ओर गरदन मोड़ता कि उसके चमचों की टोली मंत्री के मंत्री पद प्राप्त होने की खबर उड़ाती मंत्री से पहले ही शहर में आ धमकी।

चमचे चीख-चीखकर गलियों, मुहल्लों और शहर की सड़कों पर चक्कर काटने लगे। लोगों से मनुहारें करते फिरने लगे कि मंत्रीजी का शुभागमन हो रहा है। लोग मालाएँ और फूल लेकर उनके निवास-स्थान पर बाद में, पहले स्टेशन पर पहुँचें। भारी बहुमत से जीते अपने मंत्री हुए नेता की गरदन को भारी मालाओं से लादने का वक्त आ गया है।

मगर जनता और 'आम आदमी' अपनी-अपनी किल्लतों और दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में उदासीन से बने रहे। दरअसल, मालावाली बात आम आदमी तो क्या खास समझदार आदमी के भी समझ नहीं आ रही थी। किसी के भी पल्ले नहीं पड़ रही थी यह माला पहनाने की बात। किसी नेता या मत्री के गले में माला कोई तभी डाले जब वह जन-समस्याओं के निदान और जनता से जुड़ा हो। लोगों की रोजमर्रा की आवश्यक वस्तुओं को आसानी से उपलब्ध कराने में जब

कोई नेता-मत्री पहल करता है, तभी जनता स्वय ही नेता को सिर-ऑखो पर बिठा लेती है। यह सम्मान किसी भी नेता के लिए सर्वोच्च होता है। इसके अतिरिक्त जब नेता के कार्यकाल में उसके कार्य-सेवा का मूल्याकन जनता करती है, तभी सम्मान और माला का प्रश्न होता है। फिलहाल तो आम जनता की समझ में मालावाली बात नही आई। इसलिए ज्यादातर लोग मंत्री बने नेता के आगमन के प्रति भी उदासीन बने रहे।

मत्रीजी आ गए थे। लोग गायब थे। स्टेशन पर मंत्रीजी को लेने पॉच लोग पहुॅचे। इन्हें देखकर मंत्री ने अपने साथ प्लेटफॉर्म पर चल रहे 'सहायक' से पूछा, 'ये लोग वही हैं, जो मुझे कल तक राजधानी में घेर रहे थे?'

'जी सरकार! ये वही चमचे हैं।'

'मगर लोग कहाँ हैं?' मंत्रीजी ने व्याकुल होकर पूछा, 'मालाएॅ कहीं नहीं दिख रहीं। साले ये चमचे भी यहॉ बिना मालाओं के चले आए मेरा जी जलाने।'

तभी चमचों ने मंत्रीजी को पास जाकर घेर लिया।

'क्यों त्रिपाठी, मालाएँ कहाँ हैं?' मंत्रीजी ने एकाएक एक विशेष चमचे की ओर मुँह करके धीरे से पूछा।

'मालाएँ गाड़ी में रखी हैं।' त्रिपाठी ने तनिक मुसकराकर बताया।

'गाड़ी में, मंत्रीजी ने चौंककर पूछा, 'गाडी में क्यों? मालाएॅ तो मेरे गले में होनी चाहिए थीं।' तभी मंत्रीजी ने सँभलकर कहा, 'मेरा मतलब है कि मालाएँ लोगों के हाथों में होनी चाहिए थीं।'

'सो तो है ऊँ।' एक दूसरे चमचे ने मंत्री के स्वर में स्वर मिलाया।

'सो तो है, ऊँ।' मत्रीजी ने मुँह बना खिसियाकर पूछा, 'लोग कहाँ हैं? जनता कहाँ चली गई?'

'सरकार, लोग अँधेरे के मारे अपने-अपने घरों में डरकर दुबके बैठे होंगे या पानी की बालटियाँ अपने-अपने हाथों में लिये कुओं के आस-पास या तालाब के इर्द-गिर्द मँडरा रहे होंगे।' इतना बताकर तीसरे

चमचे ने फिर यह भी जोड़ दिया, 'जब से हुजूर चुनाव जीते हैं, इस नगर मे बिजली भी बदचलन लड़की की तरह आँख मारती-सी जाने कहाँ गुम रहती है।'

'हूँ।' मंत्रीजी ने अब गभीरता से अपने सहायक की ओर देखा, 'लोग एक ही चीज अपने हाथों मे उठा सकते हैं—या तो बालटियाँ या फिर मालाएँ। लोग नही हैं यहाँ तो इसमें लोगों का कोई कसूर नही। कसूर है तो तुम नकारों का, जो आज मेरे आगमन पर शहर में उजाले का प्रबध भी न करा सके।'

तभी मंत्रीजी आगे बढ़ते कि कुछ लोगों ने मंत्रीजी के गले मे मालाएँ डाल दीं। मंत्रीजी गद्गद होकर बोले, 'कौन हैं ये लोग?'

'सरकार, ये लोग बाहर खड़ी गाड़ियों के ड्राइवर हैं।' चमचे ने बताया।

पता नहीं कब एक चमचा बाहर प्लेटफॉर्म से उन मोटर गाडियों के पॉचों ड्राइवरो को माला सहित ले आया था, जिन गाडियों के मालिक पॉच बड़े धन्ना सेठ थे। शायद उस चमचे ने मंत्रीजी की माला न पहन पाने की व्यथा को अनुभव कर लिया था। मगर जब मंत्रीजी को पता चला कि माला डालनेवाले आम आदमी नहीं, ड्राइवर हैं, तो मंत्रीजी क्रुद्ध गए।

लेकिन क्या ड्राइवर आम आदमी नहीं? मंत्रीजी प्लेटफॉर्म से निकलकर गाड़ी में बैठते-बैठते सोचने लगे। पर न जाने क्यों मंत्रीजी का मन उदास और खिन्न होने लगा था, सो वे ठीक से आम आदमी की परिभाषा नहीं सोच पा रहे थे या बना पा रहे थे।

मंत्रीजी की मोटरगाड़ी उनके अपने निवास-स्थान पर आकर रुकी। उनके निवास-स्थल पर पहले से कुछ छोटे-मझोले चमचे उपस्थित थे। इन्होंने जनरेटर द्वारा मंत्री-निवास को चमचमाने में कोई कसर न छोड़ी थी। बिजली की रोशनी जनरेटर द्वारा बनाई जा रही थी। जनरेटर की 'धड़-धड़' की आवाज ने मंत्रीजी का माथा भिन्ना दिया, फिर डीजल की बदबू से तो मंत्रीजी को विशेष अरुचि थी, सो वे अपने

स्वागत हॉल (बडावाला कक्ष) में प्रविष्ट होते ही फूट पड़े, 'क्या प्रबंध है? मेरे यहाँ आने पर एक दिन की विद्युत् व्यवस्था नहीं हो सकी। उफ!' मंत्रीजी लगभग असहाय से होकर रुआँसे हो आए।

'हुजूर, ध्यान ही नहीं रहा, विद्युत् विभाग को खटखटाने का। दरअसल, फूल-मालाओं और लोगो को जुटाने का काम प्राथमिक और आवश्यक हो गया था।'

चमचों के सरदार त्रिपाठी ने वजह बताकर मंत्रीजी को सामान्य करना चाहा।

'तुम सटप हो जाओ।' मंत्रीजी ने अपनी मिनी अंग्रेजी की जानकारी देते हुए चमचा-सरदार पर अपनी बौखलाहट और असंतुष्टि एकदम स्पष्ट कर दी।

तभी मंत्रीजी ने अपने निवास-स्थान पर एकत्रित चमचा-समूह का सिंहावलोकन किया। वे सभी परस्पर स्पर्धा भाव से एक-दूसरे को देखते हुए बड़बड़ाते-से प्रतीत हुए। जनरेटर की 'धड़- धड़' में चमचों की आवाज उभर नही रही थी। पर शायद चमचों में इस बात पर परस्पर निर्णय लिया जा रहा था कि मंत्री को सर्वप्रथम माल्यार्पण कौन करेगा?

लेकिन जनता का एक भी आदमी न देखकर मंत्रीजी का मूड ऑफ हुआ जा रहा था। वे खिन्न मन:स्थिति में एक कुरसी पर स्वयं ही बैठ गए। यह सोचकर चिंतित होते हुए कि अब माला-समारोह का क्या होगा?

इसी बीच मंत्रीजी के 'खास सहायक' ने शायद विद्युत् विभाग का फोन उठाकर तेज आवाज में फटकारनेवाली शैली में कहा, 'क्या तमाशा है यह कि ऊर्जा मंत्री शहर में हैं और शहर में अँधेरा छाया हुआ है। मंत्रीजी जनरेटर में जल रहे डीजल की गंध का सेवन कर रहे हैं।'

फोन पर उधर से मीठा सा जवाब आया, 'क्या हुआ, साहब? चुनाव के पहले हमारे ही विभाग और हमने मंत्रीजी को एक लाख रुपए चंदा में दिए थे—अब हम सिनेमावालों, बड़े-बड़े उद्योगों और हथकरघों के मालिकों से अपना हिस्सा नहीं उगाहेंगे तो काम कैसे चलेगा?

आखिरकार क्षतिपूर्ति तो कहीं से होगी ही। खैर, पर आप कौन साहब और कहाँ से बोल रहे हैं?'

मैं मंत्रीजी का 'खास आदमी' हूँ और उनके ही निवास-स्थान से बोल रहा हूँ। यहाँ मंत्रीजी का आम जनता द्वारा माल्यार्पण और स्वागत होना है; मगर आपकी कृपा से वह अब असंभव-सा लग रहा है।

'डोंट वरी, सर!' उधर से मसखरे अंदाज में आवाज आई, 'मैं फिलहाल कुछ घंटे के लिए बिजली दे रहा हूँ। मंत्रीजी का 'माला समारोह' संपन्न हो जाए और वे शहर से कूच कर जाएँ तो फोन कर देना, ताकि फिर 'मेरा अभियान' पुनः आरंभ हो सके।'

'खटाक' से फोन रखने की आवाज के साथ ही 'झक' से बिजली पूरे शहर में चमक उठी। मंत्रीजी के चेहरे पर नूर आया। 'सहायक' को करार मिला। सभी चमचों के चेहरों पर आत्मिक सुख की छटा और खुशी का उजाला छा गया।

रात के आठ बज रहे थे। अब प्रश्न था कि माला डालने के लिए आम आदमी कहाँ से आएँ। स्वयमेव जनता के मध्य से अब तक कोई भी नहीं आया था। हाँ, माला डालने के लिए चमचे सतर्क हो रहे थे। उन लोगों ने अपनी-अपनी मालाएँ अपने-अपने हाथों में उठा रखी थीं।

परंतु मंत्रीजी की चाहना हो रही थी कि कोई बुनकर-उनकर, सर्वहारा या मजूदर-किसान टाइप गंदा-संदा फटेहालवाला ठेठ आम आदमी ही उन्हें सर्वप्रथम फूल-माला पहनाए। इसलिए मंत्रीजी स्वयं अपनी गरदन उठा-उठाकर टकटकी निगाहों से दरवाजे की ओर ताकने लगते, फिर हताश से गहरी साँस छोड़कर अपनी निगाहें खींचकर अपने पैरों पर गिरा लेते।

मंत्रीजी को मायूस-सा पाकर एक वृद्ध चमचे ने आशा भरी आवाज में सलाह दी, 'मेरे विचार में रात्रि अधिक हो गई है। इस सुनसान और नगर से दूर जगह पर अभी तो फिलहाल कोई न आए। क्यों न हम माला-समारोह को कल दोपहर को रखें और प्रातः ही इसके लिए जी-तोड़कर आम पब्लिक को यहाँ जुटाएँ।'

'है तो बात ठीक।' एक दूसरे चमचे ने समर्थन किया, जिसके हाथ में कोई फूल-माला नहीं थी।

'पर हम जो मालाएँ आज ले आए हैं, वे व्यर्थ ही जाएँगी क्या? कल तक तो ये फूल एकदम सूख जाएँगे। और क्या सूखे-मुरझाए फूलो की मालाएँ नए-नए ताजा मंत्री बने अपने नेता के गले में डाली जाएँगी?' एक माला लिये हुए चमचे ने उत्तेजित होकर विरोध किया।

'नहीं, हम मालाएँ आज और अभी ही डालेंगे। अपना बूढ़ा और बासी सुझाव आप अपने पास रखे।' एक अन्य चमचा तेज होकर बोल उठा।

मंत्रीजी, जो स्वयं में डूबे खोए-खोए से हो रहे थे, वातावरण को गरम देखकर सचेत हो गए। उन्हें लगा कि उनके गले में ये चमचे माला डालने की पूरी तैयारी में आ गए हैं। हो सकता है कि आम आदमी के द्वारा माला डाले बिना ही उनके गले में माला डाल दी जाय। वे न जाने क्यों अब घबरा उठे।

एकाएक मंत्रीजी उठे। अपने विशेष अतिथि-कक्ष में तनहा होकर जा बैठे।

मंत्रीजी की घबराहट एवं मन की विह्वलता को उनके 'सहायक' ने काफी निकटता से अनुभव किया। वह धीरे से निवास-स्थान के बाहर दरवाजे पर आ गया।

बाहर आकर वह सहायक अब इधर-उधर कुछ खोजता हुआ सा देखने लगा। तभी उसे सामने से एक मूँगफलीवाला आता दिखा। वह प्रसन्नता से खिल उठा।

मूँगफलीवाला जैसे ही करीब आया, उस सहायक ने उसे पास बुलाया और पाँच रुपए का एक नोट दिया।

'आधा किलो दे दूँ?' मूँगफलीवाला खुश होकर बोला।

'नहीं भाई! आज तो तुम मूँगफली मेरी ओर से अपने बच्चों के लिए लेते जाना। हमारे मंत्रीजी पधारे हैं। तुम मेरा यह काम करो कि यह फूल-माला ले जाकर उनके गले में डाल दो।' सहायक ने एकदम

अपनी बात और लक्ष्य स्पष्टत: उसे बताया, 'मैं मंत्रीजी का खास आदमी हूँ, सो यह माला मैं नहीं डाल सकता। तुम डाल सकते हो। तुम्हारे लिए कोई प्रतिबंध नहीं।'

मूँगफलीवाला शायद घाघ था। फौरन पैंतरा बदल गया, 'साहब, तब तो मुझे पूरा दस का एक पत्ता ही चाहिए। पाँच में तो मेरी बेइज्जती है।'

'बेइज्जती! वो कैसे?'

'मैं खालिस आम आदमी हूँ, जैसे आप खास आदमी।' उसने सहायक को बताया, 'मैं गरीब मूँगफलीवाला, रोज कमाने-खानेवाला, सर्वहारा टाइप।'

'ओह! तुम तो बहुत पहुँचे हुए लगते हो।' मंत्रीजी के सहायक ने उसे घूरते हुए फिर पाँच का एक नोट दिया और कहा, 'जल्दी करो।'

'हुजूर, ये मेरी मूँगफली की बोरी?'

'इसे यहीं, इस पेड़ के नीचे रख दो—झाड़ी के बीच।'

फिर वह सहायक मूँगफलीवाले के हाथ में माला पकड़ाकर तेजी से मंत्रीजी के कक्ष में जा पहुँचा। मंत्रीजी मूँगफलीवाले आम आदमी के हाथ में माला देखकर फूट (एक फल) की भाँति खिल गए। खुशी से मन-ही-मन नृत्य कर उठे।

मूँगफलीवाले ने मत्रीजी के पास जाकर उनका जयकारा बोला। गले में माला डालकर चरण भी छुए।

मंत्रीजी मूँगफलीवाले को और मूँगफलीवाला मंत्रीजी को टकटकी निगाहों से कई क्षणों तक देखते रहे। तभी मूँगफलीवाले को अपनी मूँगफली की बोरी का खयाल आया तो वह तेजी से उलटे पाँव लौट पड़ा। मूँगफलीवाले के जाते ही पीछे से कृतज्ञ-सा हुआ मंत्री का सहायक आ पहुँचा, 'तुम धन्य हो, जो आम आदमी हो। वास्तव मे तुम आम आदमी होकर बड़े-बड़े खास आदमियों की पीड़ा को हरण करने पर तुले हो। तुम महान् हो।'

'अच्छा साहब! अब पाँच रुपए कायदे से और निकालो।'

मूँगफलीवाला सहायक की चापलूसी से ऊबकर बोला।

'पाँच रुपए। वो किस बात के?' सहायक ने चौंककर पूछा।

'देखा नहीं था अंदर, मैंने किस जोरदारी से जयकारा बोला और मंत्रीजी के चरण भी छुए थे?' मूँगफलीवाले ने अपने अतिरिक्त कार्य को साफ बता दिया, 'भैया, ये मैंने अपनी ओर से भले ही किया; लेकिन शान और आन तो मंत्री और तुम्हारी ही रही।'

'बस-बस, समझ गया।' सहायक ने उसे पाँच रुपए और देकर विदा किया।

ये पाँच रुपए सहायक को खल गए थे। वह चाहता तो मूँगफलीवाले को डाँटकर भगा सकता था, परंतु स्थिति की कोमलता को देखते हुए वह सब सह गया।

मूँगफलीवाले से निपटकर सहायक अंदर बड़े कक्ष मे आया तो पाया कि मंत्रीजी आराम-कक्ष में जा चुके थे। और चमचों के मध्य घोर विवाद छिड़ा हुआ था।

हुआ यह कि किसी जूनियर कार्यकर्ता ने मूँगफलीवाले के बाहर जाते ही आगे बढ़कर फौरन ही मंत्रीजी के गले में माला डाल दी; जबकि सीनियर और वयोवृद्ध कार्यकर्ता हाथ मलते रह गए थे। अब सीनियर कार्यकर्ता मुँह फुलाए फिर कभी 'माल्यार्पण समारोह' या अन्य समारोहों में न आने की धमकियाँ दे रहे थे।

जूनियर कार्यकर्ता द्वारा इस प्रकार मंत्रीजी को पहले माला पहनाने के कार्य को अनुशासनहीनता और धृष्टता बतलाया जा रहा था। सीनियर कार्यकर्ताओं के रहते हुए जूनियर कार्यकर्ता मंत्री को पहले माला डाले, उसकी यह हिम्मत! मगर जूनियर कार्यकर्ता उस समय वहाँ से न जाने कब गायब हो चुका था।

'ये साले ऐसे ही हर बार झगड़ते हैं और फिर हर बार बिना बुलाए ही आ धमकते हैं। चमचे जो ठहरे।' वह सहायक उन सबकी खिचखिच सुनकर, मन-ही-मन बड़बडाकर एक कुरसी पर पसर गया। उसे अब बड़ी राहत महसूस होने लगी थी।

सुबह पाँच बजते-बजते मंत्री महोदय ने शहर छोड दिया। उन्हें एक गाँव जाकर भी मालाएँ पहननी थीं। फिर लखनऊ चले जाना था।

मंत्रीजी के शहर से चले जाने की खबर लोगों को स्वतः मिल गई, क्योंकि सुबह से ही बिजली हमेशा की भाँति मटरगश्ती करने को गायब हो चुकी थी।

□

वे दिन त्योहार-से होते हैं



पत्नी मायके क्या जाती है, सारी बंदिशें अपने साथ लिये जाती है। सुबह-शाम की बेवजह की काँय-काँय और खटखिटों से छुटकारा मिल जाता है।

पत्नी नहीं होती है तो मैं अपनी मरजी का राजा होता हूँ। देर तक सोने और होटल में मनपसंद खाने की छूट हो जाती है। कभी ये नहीं, कभी वो नहीं के तानों से मुक्ति मिल जाती है।

जब पत्नी मायके में होती है तो माँ का प्यार भी खूब मिलता है। घर में शांति हो जाती है। वरना घर सब्जी मंडी-सा बना रहता है। पत्नी मायके जाती है तो पड़ोसियों और मित्र परिवारों से ढेरों सहानुभूतियाँ और मुहब्बत नसीब होने लगती है। शादी से पहले जो लड़कियाँ कभी-कभार देख लिया करती थीं, फिर से मेहरबान होने लगती हैं। हालाँकि उनकी मेहरबान नजरों में मुहब्बत की जगह दया और बेचारगी होती है।

मुहल्ले-पड़ोस की औरतें पूछने लगती हैं, 'अरे भई, कब ला रहे हो?'

'क्यों, क्या मेरी आजादी बरदाश्त नहीं होती?' मेरे इस जवाब को ये हँसी-दिल्लगी समझकर टाल जाती हैं।

पत्नी के रुखसत होते ही तंगेदस्ती और फटेहाली के दिन हवा हो जाते हैं और शहंशाही के पल फिर से लौट आते हैं। कहीं भी आते-जाते

समय थानेदारी झाड़नेवाला कोई नही होता। पुराने यार-दोस्त एकाएक घर आने लगते हैं। घर पर पार्टी और क्लब-सा माहौल हो जाता है।

जिस समय पत्नी मायके जाने की तैयारी कर रही होती है, लगता है, शहर (घर) से कर्फ्यू उठ गया हो, वह लड़कर मायके गई हो या हँसी-खुशी; लेकिन घर उस प्लेटफॉर्म-सा लगने लगता है, जहाँ से कोई रेलगाड़ी तमाम चिल्ल-पों अपने साथ लेकर छूट गई हो।

इस शांत और स्वर्गिक वातावरण में लिखने-पढ़ने की पूरी आजादी मिल जाती है। यदि ऐसा न होता तो भला अपनी पत्नी की उपस्थिति में अपनी यह कलम चला पाता। वह इस समय अपने मायके ही गई हुई है। मेरे साथ सुखद हादसा यह है कि जब तक उसे मैं लेने न जाऊँ तब तक उसके घरवाले उसे अकेले नहीं आने देते।

□

काश, यह उपवास पहले ही कर लिया होता



वे अपने शहर के सर्वोपरि नेता हैं। अनेक समाज- सेवी संस्थाओं के सिरमौर और मुखिया। उपवास कर रहे हैं। उनका उपवास शहर मे शांति, सद्भाव और समरस वातावरण लाने के लिए हो रहा है। मगर मैं नहीं मानता कि उनका उपवास इन सब बातों के लिए हो रहा है।

मुझे याद आता है कि पजाब में आतंकवाद के दिनों में फिल्म अभिनेता सुनील दत्त ने भी कुछ ऐसा ही उपवास्न किया था। अनेक नेताओं ने भी उपवास किया, ताकि समाज में उत्पात व आतंक का खात्मा हो। एक बार अटल बिहारी वाजपेयीजी ने भी उपवास किया था—समाज व देश में समभाव व समरस वातावरण बनाने के लिए। लेकिन क्या हुआ? उलटे उत्पात, अपहरण, आतंकवाद बढ़ता ही गया, दगा–फसाद होता ही गया। उपवास करने से देश टूटने से बचता तो गांधीजी के उपवास से पाकिस्तान नहीं बनता, देश टूटकर हिंदुस्तान और पाकिस्तान में नहीं बँटता, हजारों लोग मारे–काटे नहीं जाते।

दरअसल आदमी उत्पात तभी करता है, जब उसका पेट भरा होता है। पेट में आग का गोला पहुँचता है तो ही एक इनसान दूसरे इनसान पर गोलाबारी करता है। अतिरिक्त ऊर्जा होती है तो वह कभी मंदिर तोड़ता है, कभी मसजिद। जब कुछ नहीं होता दिखाई देता तो आदमी ही आदमी को फोड़ता है। सारा दोष खाए–पिए का है। खाया–

पिया चंगा आदमी ही कानून, कायदा और संविधान तक तोड़ने की जुर्रत करता है।

हमारे देश में करोड़ो लोग हैं, जो हर रोज कम-से-कम एक बार का खाना नही खाकर उपवास करते हैं। बहुत से लोग कई दिनों तक भोजन नहीं करते। अफ्रीका, सोमालिया, इथोपिया, बँगलादेश और जाने कितने देश ऐसे हैं जहाँ लाखों लोग भूख से मर रहे हैं। हिंदुस्तान मे करोडों की संख्या में लोग फुटपाथों पर उपवास करते हैं। इसके बावजूद शाति, सद्‌भाव और समरसता का वातावरण नहीं बना।

वास्तव में अगर उपवास करने से शांति, सद्‌भाव व समरसता का माहौल बनता तो सबसे पहले घरों-परिवारों में इसका असर दिखाई देता। हमारे देश-समाज में प्रायः हर हिंदू स्त्री व्रत-उपवास करती है। वह 'करवाचौथ' का कठिन उपवास करती है। फिर भी औरत प्रताडित होती है। वधू जलाई जाती है। उपवास से प्रेम-सद्‌भाव पैदा होता तो स्त्रियाँ सर्वप्रथम इसे आत्मरक्षार्थ अपनातीं।

सचमुच, उपवास की अगर आवश्यकता है तो वहाँ, जहाँ साधन-संपन्नता है, भौतिकता है; मगर वैचारिक विपन्नता है। यही और ऐसे लोग ही उत्पात करते-कराते हैं। समाज और देश की शांति भग करते है। मोटर-कारों, बँगलों में सुख-वैभव लूटनेवाले नेता ही सारे दगे-फसाद कराते हैं। यही लोग व्यक्तिगत विद्वेष फैलाकर शांति-सद्‌भाव खराब करते हैं। आम आदमी की रोटी छीनकर 'जबरिया उपवास' की त्रासदी झेलने को विवश करते हैं।

अगर उपवास सचमुच एक कारगर उपाय है तो यह उपवास काश, बहुत पहले ही कर लिया गया होता। इससे कश्मीर विधानसभा और देश की ससद् पर हमला नहीं होता। सीमा पर पाकिस्तान से युद्ध की नौबत नहीं बनती। तमाम ईसाई नहीं मारे जाते। मंदिर-मसजिद नही टूटते। आपस में लोगों के दिल नही टूटते। देश को बार-बार चुनाव झेलने की विवशता नहीं होती। गठबंधित सरकारें शांति और सद्‌भाव के साथ अपना कार्यकाल पूरा कर पातीं। सच, बहुत से मामलों में बहुत देर

हो गई इन उपवास करनेवालों से।

पर खैर, वे जो उपवास कर रहे हैं और जिन्होंने उपवास किए, अच्छा किया। ऐसे लोग अपने जैसे अन्य लोगों को भी उपवास करवाएँ। बड़े-बड़े नेता अपने साथियों से भी उपवास करवाएँ, ताकि सामाजिक अशांति और उपद्रवों से हम देशवासी मुक्त हों या नहीं, अलग बात है, परंतु कम-से-कम इतना तो इन्हे अनुभव हो सके कि इस बढ़ती जा रही महँगाई के दौर में आम आदमी कैसे उपवास कर-करके दिन काट रहा है।

□

हारने का सुख



चुनाव लड़नेवाले अधिकतर नेता जीत की कामना लेकर लडते हैं। जीतने के बाद हवा हो जाते हैं, दिखाई नहीं देते। मेरे शहर का भी विजेता नेता रात को ही लखनऊ भाग लिया सरकार बनाने और उसमें शामिल होने के लिए। लेकिन मेरे शहर में एक नेताजी ऐसे हैं, जो हर बार चुनाव लड़ते हैं, और हारने के लिए ही लड़ते हैं। जब भी वे चुनाव मे खड़े होते हैं, हार जाते है।

उनके बारे में कहा भी जाता है कि वे हारने के लिए ही खड़े होते हैं। हर बार हारना और अच्छी तरह से जमानत जब्त कराकर हारना ही उनकी सचमुच जीत होती है।

वे हार को अपने गले का हार मानते हैं। तीन-चार चुनावों मे तो मैं ही उन्हें हारता हुआ देख चुका हूँ। हारने के बाद में हारे हुए कांतिहीन नहीं बल्कि हरे-भरे लगते हैं। मुसकराते हुए चले आते हैं मतगणना केंद्र से।

हमेशा की भाँति इस बार भी चुनाव में हारकर मुसकराते हुए सड़क पर उन्हें आता देखकर, मैंने उनसे बातचीत की। बातचीत के दौरान उन्होंने बताया कि उनका हारना भी मायने रखता है। उनकी हार भी अर्थवान् है। मुसकराते हुए उन्होंने कहा कि चुनाव में परास्त हो जाना ही उनकी महाविजय का प्रतीक है।

वे कहने लगे कि वे चुनाव लड़ते ही इसलिए हे कि हारे। जितना सुख व सतोष उन्हें हारकर प्राप्त हुआ है उतना शायद जीतकर नहीं मिलता। वास्तव में चुनाव में हर बार खड़ा होना और हार जाना उनकी नियति नहीं, पेशा है। निरंतर हारते रहने से उनकी लोकप्रियता बढ़ी है। अब चुनाव में प्रतिद्वंद्वी पहले तो यह प्रयास करता है कि वे खडे ही नही हो और यदि हों भी तो हार जाएँ। चुनाव के दौरान अंतिम क्षणो मे निष्क्रिय हो जाएँ, चाहे नाम वापसी की अंतिम तिथि तक अपना नाम वापस ले लें, या फिर जैसे भी प्रतिपक्षी पार्टी की जीत की खातिर वे मैदान में डटे रहकर किसी तीसरे दल के वोट काटें और स्वयं 'कट' जाएँ। इस स्थिति में जब वे 'कट' या हार जाते हैं तो हीरे की भाँति मूल्यवान् हो जाते हैं।

उनकी हार पर जीता हुआ प्रत्याशी नेता उन्हे बधाई देता है। इस बधाई से उनके घर में रगीन टी.वी , ए सी., कार और दरवाजे पर चार-चार भैंसें बँधी हैं। जीता हुआ प्रत्याशी अपने गले के नोटोंवाले हरे-हरे हार उन्हें पहनाकर हरा-भरा सरसब्ज बना देता रहा है।

जीता हुआ प्रत्याशी तो क्षेत्र से गायब हो जाता है। लेकिन वे हारकर हरेक के साथ समाज में दिखाई पडते हैं। दु:ख-सुख में जनता के साथ होते हैं। हर काम कराने को तत्पर रहते हैं। वे माध्यम बनकर जीते हुए नेता-प्रत्याशी को भी लाभ देते हैं और स्वयं भी लाभान्वित होते रहते हैं। वे अपने क्षेत्र के विधायक एव मंत्री के खासमखास समझे जाते हैं।

इस प्रकार वे हारकर भी जीते हुए माने जाते हैं। वे अपने इष्ट-मित्रों, रिश्तेदारों का तो विशेष ध्यान रखते हैं। सभी के कल्याण में अपना कल्याण देखने की नियति ने उनका सचमुच ही कल्याण किया है। वे प्राय: हारने के विविध कोणो पर चिंतन करते रहते हैं।

मुझसे बातचीत करते हुए उन्होंने कई बार किसी तकिया कलाम की तरह गुनगुनाया, 'हार इस तरह हुई कि हार अंत बन गई।' मैंने उन्हें मन-ही-मन प्रणाम किया, क्योंकि ऐसे महान् दार्शनिक नेता विरले ही

होते हैं, जो 'हार' के लिए हर समय चिंतित रहकर गुनगुनाते मस्त रहते है। 'हत्वा हिप्राप्यसि स्वर्ग'—'गीता' के इस दर्शन को वे ही तो अपनाए हुए हैं कि हारने (या मरने) पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है। हारकर स्वर्ग का सुख पाना उनकी किस्मत मे है।

मैंने उन्हें प्रणाम करके विदा ली और उनके हार की परंपरा में श्रीवृद्धि की कामना ईश्वर से हृदय के साथ की।

□

वे बाहर मरने गए हैं



मेरे एक परिचित के परिचित हैं। वे मरने के लिए बाहर गए हैं। अपने शहर में यहाँ उन्हें मरना रास नहीं आया। उन्हें लगा कि अपने शहर में भला मरना क्या! मैं भी सोचता हूँ कि अपनो के बीच अपने शहर और घर में तो हर कोई मरता है। नही चाहें तो भी मरना पडता है। मरने के लिए हरेक के पास अपने कारण और मुद्दे होते हैं।

वे जो सज्जन मरने के लिए बाहर गए हैं, उनका अपना कारण है। जुआ-सट्टा और लॉटरी के चक्कर में वे ऐसे लुटे कि बरबाद हो गए। घर-मकान तक गिरवी रख दिया। नौकरी से निकाल दिए गए। अब बीवी-बच्चों की जिम्मेदारी से कतराकर पलायन कर गए। घर पर परची छोड़ गए—'मरने जा रहा हूँ। शहर में खोजने की जरूरत नहीं, बाहर कहीं जा रहा हूँ।'

परची को देख-देखकर अब बीवी परेशान है। कभी खुद को तो कभी मुकद्दर को कोस रही है।

मैं सोचता हूँ कि ठीक किया, जो वे बाहर चले गए। यहाँ शहर में रहते तो लोग गालियाँ देते। शहर में मरने का स्वाँग करते तो लोग ताना कसते कि साला खुद तो मरा ही, बीवी-बच्चों को भी मार गया। उन्होंने अच्छा किया जो बाहर चले गए, नहीं तो यहाँ मरने के बाद भी गालियाँ ही मिलतीं।

सुना है कि वे कानपुर गए हैं मरने। कानपुर एक दंगाई शहर है। वहाँ मरेंगे तो लोग कहेगे कि दंगे में शहीद हो गया। मूल कारण पर परदा पड़ा रहेगा। कानपुर जैसे दंगाई शहर में मरने पर सरकार मुआवजा भी दे सकेगी। उन्होंने मन-मस्तिष्क दोनों को मथा होगा, तभी कानपुर चले गए। सचमुच दिमाग लगाकर मरा जाय तो मरना सार्थक हो जाता है।

जीवन भर परिवार को दुःख देनेवाला अक्ल लगाकर मरे तो बाद में वह सुखदाता बन जाता है। ऐसे लोग अगर सचमुच मर जाते हैं (वैसे तो मरते नहीं) तो परिवार को जिला जाते हैं।

कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि मर जाना हरेक के बूते की बात नहीं। मरने के लिए हिकमत और हिम्मत चाहिए। एक सज्जन थे—नम्बर वन जुआरी और एक पार्टी से जुड़े सक्रिय कार्यकर्ता। सबकुछ हारकर एक दिन शाम के धुँधलके में रेलवे लाइन पर खड़े थे कि उनके सामने एक व्यक्ति कटकर मर गया। पता नहीं कैसे उनके दिमाग मे आया कि आनन-फानन में उन्होंने अपने कपड़े उस कटे व्यक्ति को पहना दिए और उसको उतारकर स्वयं गायब हो गए।

रात भर वह लाश पड़ी रही। सुबह पता चला और उन जुआरी महोदय की मृत्यु की खबर फैल गई। लाश का चेहरा कुचल गया था। कपड़े घरवालों ने पहचाने। बाद में पार्टी के नेता ने आकर परिवार को लाख-पचास हजार रुपए दिए।

कुछ समय बाद वे दाढ़ी बढ़ाकर घर आए। रहस्य उजागर किया और शहर छोड़कर चले गए। सुनने में आया है कि वे हिम्मत बिठाकर अब तरह-तरह से मरकर मरने का बिजनेस कर रहे हैं। काफी खुशहाल हो गए हैं मरकर।

लेकिन तब क्या होगा जब पता चलेगा कि वे मरे नहीं? तब उन्हें पुलिस व कानून के फंदे में सचमुच मरना पडेगा। इसलिए मेरा उन महोदय को सुझाव है कि वे ऐसे मरने का स्वाँग नहीं करें। मरना ही है तो घर-परिवार और देश के लिए मरें। अब तक जुआ-सट्टा और

लॉटरी के लिए मरे, अब माता-पिता, पत्नी, बच्चों व समाज के लिए कुछ करें। करते हुए मरें। वे सचमुच अब तक मर चुके हैं। जब आत्मा मर जाती है, तभी आदमी मर जाता है। हालाँकि आत्मा अमर है। यहाँ आत्मा के मरने का मतलब स्वाभिमान, शर्म का मरना है। ईश्वर उन्हें सद्बुद्धि दे। वे अपने जमीर को जगाएँ और मरने की तरफ से मन हटाएँ।

□□□